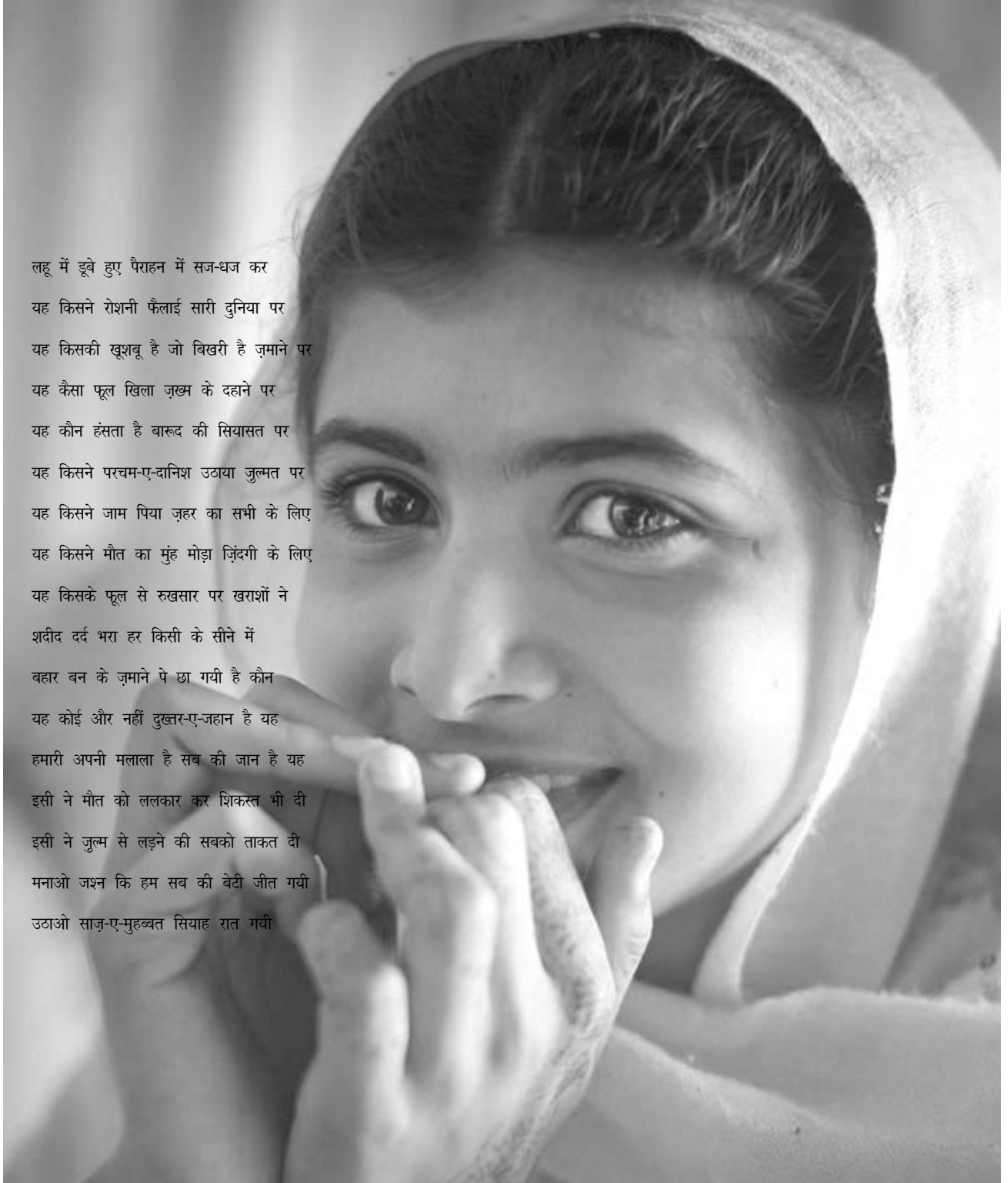


समरथ



सितम्बर-अक्टूबर 2012 ♦ नई दिल्ली

लहू में डूबे हुए पैराहन में सज-धज कर
यह किसने रोशनी फैलाई सारी दुनिया पर
यह किसकी खूशबू है जो बिखरी है ज़माने पर
यह कैसा फूल खिला ज़ख्म के दहाने पर
यह कौन हंसता है बारूद की सियासत पर
यह किसने परचम-ए-दानिश उठाया जुल्मत पर
यह किसने जाम पिया ज़हर का सभी के लिए
यह किसने मौत का मुंह मोड़ा ज़िंदगी के लिए
यह किसके फूल से रुखसार पर खराशों ने
शदीद दर्द भरा हर किसी के सीने में
बहार बन के ज़माने पे छा गयी है कौन
यह कोई और नहीं दुख्खर-ए-जहान है यह
हमारी अपनी मलाला है सब की जान है यह
इसी ने मौत को ललकार कर शिकस्त भी दी
इसी ने जुल्म से लड़ने की सबको ताकत दी
मनाओ जश्न कि हम सब की बेटी जीत गयी
उठाओ साज़-ए-मुहब्बत सियाह रात गयी



नाहि तो जनम नसाई

1979 दक्षिण एशिया में हिंसात्मक दौर की शुरुआत समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण वर्ष है। इसी वर्ष ईरान में अयातुल्ला खुमैनी के नेतृत्व में एक नए किस्म के इस्लाम ने जन्म लिया जिसके अंतर्गत सत्ता विरोधियों को इस्लाम के नाम पर बर्बरतापूर्वक मारा-काटा गया। इसी वर्ष अफगानिस्तान में सोवियत फौजों ने तत्कालीन कम्युनिस्ट शासन का साथ देने के लिए कदम रखा। अमेरिका को ऐसे ही वक्त की तलाश थी और उसने अफगानिस्तान में पैदा किए इस्लाम के नए झंडाबरदार जिन्हें हम तालिबान के नाम से जानते हैं। इनका सरगना ओसामा बिन लादेन इसी अमेरिका की देन था। तब से लेकर आज तक अफगानिस्तान और पाकिस्तान, अमेरिका और सउदी अरबिया के नेतृत्व में एक नया इस्लाम ढाल रहे हैं जिसका कोई लेना-देना नहीं उस इस्लाम से जिसकी बुनियाद चौदह सौ साल पहले पड़ी थी। इस नए इस्लाम ने बर्बरता के तमाम पुराने मापदंड तोड़ दिए। मजबूर, लाचार अशिक्षित युवाओं को सुसाइड बॉम्बर बनाना, औरतों को जिंदा दफन करना, हर उठने वाली विरोध की आवाज़ को बारूद के अंबार में दबा देना इस नए इस्लाम की बुनियादी शर्त बन गई। महिलाओं की शिक्षा की वर्जना इसी नए इस्लाम की देन है। इस्लाम के किसी धार्मिक ग्रंथ में ऐसी कोई मिसाल नहीं मिलती है जिसकी भूमिकाएं ये तालिबानी वहाबी इस्लाम के लोग लिख रहे हैं। इसी नए इस्लाम ने मलाला जैसी मासूम लड़की, जिसका एकमात्र अपराध था बच्चियों के लिए शिक्षा की जागरूकता फैलाना, उसे खत्म करने की कोशिश की लेकिन तालिबानों की बंदूकें मलाला का जिस्म भेद कर भी हार गईं। आज मलाला एक प्रतीक है इन वहशियों के खिलाफ जंग का और मुस्लिम महिलाओं के बीच शिक्षा के प्रसार का।

मलाला के नाम

■ डॉ. खुशींद अनवर

खून फिर कूचा-ओ बाज़ार में आ निकला है
खून टपका है हरफ़ बन के हर एक कोने में
रौशनी बन के चमकता है हर एक सीने में
टैंक, बन्दूक से डरता नहीं यह खून है वह
दस्त-ए-क़ातिल को मिटा सकता है यह खून है वह
तख़्त और ताज हिला सकता है यह खून है वह
जुल्म का नाम मिटा सकता है यह खून है वह
खून फिर कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है
आओ इबलीस के फ़रज़न्दो अगर हिम्मत हो
देखो इस खूं कि जेला तुम में अगर ताकत हो
इल्म के दुश्मनो, जल्लादो ज़मीं के धब्बे
वार करते हो ज़ेहानत पे हमेशा चुप के
यह मलाला का लहू एक समंदर होगा
जिसके तूफ़ान में तुम सब का सफ़ीना होगा
देखो वह मौत का पैगाम चला आता है
खून का दरिया तुम्हारी ही तरफ आता है

मैं ही मलाला हूँ

■ सुरेन्द्र सिंह रावत

मंगलवार, नौ अक्टूबर, समय दोपहर सवा बारह बजे। इस्लामाबाद से करीब 160 कि.मी. दूर स्वात घाटी का मुख्य शहर मिंगोरा। तहरीक-ए-तालिबान पाकिस्तान के हथियारबंद आतंकियों ने छात्राओं को स्कूल से घर ले जा रही एक बस रोक उसमें बैठी छात्राओं से पूछा, “मलाला कहां है, कौन है मलाला?” बस में खौफज़दा सन्नाटा छा गया। तभी एक छात्रा ने हिम्मत के साथ जवाब दिया “क्या है, मैं ही मलाला हूँ।” जवाब मिलते ही आतंकियों ने उसके माथे पर गोली मारी और वहां से चल दिये। मलाला वहीं पर गिर पड़ी।



उसकी ज़िंदगी की सलामती के लिए पूरी दुनिया में करोड़ों हाथ दुआओं के लिए उठ खड़े हुए। मीडिया में चारों ओर मलाला ही मलाला। इस आतंकी कार्यवाही ने पाकिस्तानी हुक्मरानों तक को हिला दिया। 15 अक्टूबर को मलाला को बेहतर इलाज के मद्देनज़र ब्रिटेन में बर्मिंघम के क्वीन एलिजाबेथ अस्पताल में भर्ती कराया गया, जहां उसका इलाज बड़ी संजीदगी के साथ किया जा रहा है। उम्मीद की जा रही है वह जल्द ही स्वस्थ हो फिर से अपनी राह पकड़ेगी...

आखिरकार यह ‘मलाला’ है कौन? आखिरकार ऐसा क्या हुआ कि तालिबानी आतंकियों ने एक बच्ची को अपनी हिट लिस्ट में शामिल कर उस पर जानलेवा हमला किया और पूरी दुनिया उस छात्रा के साथ आ खड़ी हुई? दुनिया भर में लाखों लोगों ने उस ऑनलाइन पेटिशन पर दस्तखत किये, जिसमें मलाला को शांति के लिए नोबल पुरस्कार देने की मांग की गई।

मलाला युसुफज़ई का जन्म 12 जुलाई, 1997 को पाकिस्तान के खैबर पख्तूनख्वाह प्रांत के तालिबानियों के खास प्रभाव वाले स्वात घाटी इलाके में हुआ। पिता जियाउद्दीन युसुफज़ई, जो पेशे से स्कूल के हेडमास्टर हैं और सामाजिक कार्यकर्ता भी, ने अपनी बेटी का नाम

अफगानिस्तान की पश्तो कवियित्री मलालई के नाम पर रखा। जिसने 1880 में द्वितीय ब्रिटिश-अफगान युद्ध के दौरान मैवन्द की लड़ाई में अपनी बहादुरी से दुश्मन के दांत खट्टे कर दिये थे और 18 वर्ष की उम्र में इस लड़ाई में शहीद हो गयी। यूँ पश्तो भाषा में मलाला का मतलब होता है

‘शोक-संतप्त’, लेकिन नाम के अर्थ को धत्ता बताते हुए उसने उस छवि को उजागर किया, जिस सोच के तहत शायद उनके पिता ने मलालई के नाम पर अपनी बेटी का नामकरण किया था ‘मलाला’।

तकरीबन तीन साल पहले तालिबानियों ने स्वात घाटी में फतवा जारी किया और शरीया कानून का हवाला दे लड़कियों के स्कूल जाने पर रोक लगा दी। उस वक्त मलाला सातवीं जमात में पढ़ रही थी और उम्र कुल जमा 11 साल। ऐसे में उसने एक जज्बाती कविता लिखी जिसे रावलपिंडी के एक अखबार ने छपा। कविता का मर्म कुछ यूँ था, “मौत के सौदागर भला, धर्म के सेवादार कैसे हो सकते हैं? इन्हें तो इंसान कहलाने का हक भी नहीं।” अपने हौसलों की कड़ी-दर-कड़ी घटनाओं से धीरे-धीरे यह बहादुर लड़की चर्चित होने लगी और पहली बार सुर्खियों में साल 2009 में तब आई, जब उसने बीबीसी उर्दू के लिए ‘गुल मकई’ (मक्के का फूल) छद्म नाम से डायरी लिखनी शुरू की, जिसमें तालिबान की दरिंदगी के साथ उसने अपने दर्द को भी बयां किया। यह वो वक्त था जब स्वात घाटी पर तालिबान का राज कायम था। धीरे-धीरे गुल मकई तालिबानों के खिलाफ इंकलाब का पर्याय बन गयी। अपनी डायरी के माध्यम से मलाला ने तालिबान के फरमान के बावजूद क्षेत्र के लोगों को लड़कियों की शिक्षा और अन्य मुद्दों के प्रति न सिर्फ जागरूक किया बल्कि तालिबानी आतंक के खिलाफ लामबद्ध भी किया। गुल मकई के छद्म नाम से लिखी गयी इस डायरी को लोगों ने खूब पसंद किया।

डायरी का एक हृदयस्पर्शी अंश यूँ है :

“आज स्कूल का आखिरी दिन था इसलिए हमने मैदान पर कुछ ज़्यादा देर खेलने का फैसला किया। मेरा मानना है कि एक दिन स्कूल खुलेगा लेकिन जाते समय मैंने स्कूल की इमारत को इस तरह देखा जैसे मैं यहाँ फिर कभी नहीं आऊंगी।

लेकिन मलाला और उसके ब्लॉग की पहचान दुनिया के सामने उस वक्त चर्चा में आई जब साल 2010 के अंत तक स्वात में सरकार का नियंत्रण बहाल हो तालिबान का आतंक कम हुआ और देशी-विदेशी मीडिया ने वहाँ दस्तक दी। उन्होंने तालिबानी दौर के जुल्मो-सितम पर स्टोरी करनी शुरू कीं। इसी वक्त अंतर्राष्ट्रीय मीडिया में मलाला पर भी काफी कुछ लिखा गया।

पिछले साल 2011 में एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन किड्स राइट फाउंडेशन ने इंटरनेशनल चिल्ड्रन पीस प्राइज़ के लिए उसे नामित किया। ये अवार्ड मलाला को नहीं मिला लेकिन इसके बाद वह और लोकप्रिय हो गई। पहली बार 19 दिसंबर, 2011 को पाकिस्तानी सरकार द्वारा पाकिस्तान का

पहला युवाओं के लिए राष्ट्रीय शांति पुरस्कार मलाला को मिला। उस वक्त ये राज भी उजागर हो गया कि गुल मर्कई के छद्म नाम से बीबीसी उर्दू के लिए डायरी लिखने वाली लड़की मलाला ही है और वो मिंगोरा में रहती है तथा पेशे से हेडमास्टर व सामाजिक कार्यकर्ता जियाउद्दीन युसुफज़ई ही उसके पिता हैं।

उसके बाद दौर शुरू हुआ धमकियों का, अंततः वह घटा जिसका अंदेशा बाप-बेटी दोनों को शायद पहले से था...लेकिन बात जैसा कि तालिबानियों ने सोचा होगा वहीं पर खत्म नहीं हुई। उसके बाद देश-दुनिया के स्तर पर जो कुछ घटा, खासकर पाकिस्तान में जिस तरह से अवाम मलाला के पक्ष में आ खड़ी हुई है वह एक सकारात्मक संकेत है, लेकिन विचारणीय है कि क्या ये संकेत व्यापक मायनों में तब्दील होगा? क्या तालिबान जिस तरह अस्तित्व में आया और बदलते राजनीतिक हालातों के बीच इसने अपनी वैधता जनता से हासिल की और फिर जनता के साथ-ही-साथ पूरी दुनिया के खिलाफ भस्मासुर बन गया, उस भस्मासुर की अपने इस कुकृत्य से भस्मीकरण की राह प्रशस्त होगी?

मलाला ने जंग जीत ही ली

■ डॉ. खुर्शीद अनवर

लहू में डूबे हुए पैराहन में सज-धज कर यह किसने रोशनी फैलाई सारी दुनिया पर यह किसकी खूशबू है जो बिखरी है ज़माने पर यह कैसा फूल खिला ज़ख्म के दहाने पर यह कौन हंसता है बारूद की सियासत पर यह किसने परचम-ए-दानिश उठाया जुल्मत पर यह किसने जाम पिया ज़हर का सभी के लिए यह किसने मौत का मुंह मोड़ा ज़िंदगी के लिए यह किसके फूल से रुखसार पर खराशों ने शदीद दर्द भरा हर किसी के सीने में बहार बन के ज़माने पे छा गयी है कौन यह कोई और नहीं दुखतर-ए-जहान है यह हमारी अपनी मलाला है सब की जान है यह इसी ने मौत को ललकार कर शिकस्त भी दी इसी ने जुल्म से लड़ने की सबको ताकत दी मनाओ जश्न कि हम सब की बेटी जीत गयी उठाओ साज़-ए-मुहब्बत सियाह रात गयी

खुदरा कारोबार के मिथक

■ सुभाष गाताडे

भारत सरकार का दावा है कि खुदरा कारोबार में विदेशी पूंजीनिवेश की राह खोलने से छह सौ अरब डॉलर तक पूंजी यहां पहुंचेगी। दूसरी तरफ के आलोचक इस तरह का अनुमान पेश कर रहे हैं कि वालमार्ट और उस जैसी कंपनियों के आने से कितने लाख लोग बेरोजगार होंगे, आदि। लगता है दोनों पक्षों की तरफ से छवि की लड़ाई चल रही है। कुल खुदरा कारोबार में आज बड़ी कंपनियों की हिस्सेदारी चार-पांच फीसद है। अर्थशास्त्रियों का अनुमान है कि 2018 तक यह हिस्सेदारी बढ़ कर पचीस फीसद हो जाएगी। इस पूरी आपाधापी में जबकि ये अनुमान चर्चित हो रहे हैं, भारत में पिछले पंद्रह साल से कायम बड़े रिटेल के अनुभव पर अधिक बात नहीं हो पा रही है। मालूम हो कि भारत में बड़े रिटेल का अनुभव कम से कम पंद्रह साल पुराना है।

पत्रकार श्रीनिवासन जैन और रवि जाधव अपनी एक रिपोर्ट में विस्तार से बताते हैं कि कितने 'देशी' पूंजीपतियों ने रिटेल में अपनी पूंजी लगाई और इस वक्त उनका अनुभव क्या है? उनके मुताबिक बड़े रिटेल की भले सुनहरी तस्वीर पेश की जा रही हो, मगर सच्चाई अलग है। दरअसल, इस धंधे में लगे हर बड़े खिलाड़ी को नुकसान उठाना पड़ा है। पिछले साल रिलायंस फ्रेश को दो सौ सैंतालीस करोड़ रुपए का नुकसान हुआ, भारती को दो सौ छियासठ करोड़ का और मोर सुपरमार्केट चलाने वाले आदित्य बिड़ला ग्रुप को चार सौ तेईस करोड़ रुपए का।

सुभिक्षा जैसा समूह जिसने एक वक्त पूरे मुल्क में पंद्रह सौ से अधिक दुकानें खोली थीं, उसका दिवाला पिट गया। कोई भले यह कहे कि इन समूहों को खुदरा क्षेत्र का अनुभव नहीं था, जिसकी वजह से उन्हें घाटा उठाना पड़ा; मगर किशोर बियानी की मिल्कियत वाला फ्यूचर ग्रुप, जो बिग बाज़ार श्रृंखला चलाता है, उसका संकलित घाटा तीन हजार करोड़ तक पहुंचा है।

जाहिर है, बड़े रिटेल में लगे सभी लगभग संकट में हैं। सैकड़ों करोड़ रुपए का नुकसान उठा कर धंधे में लगे हैं, शायद इसी इंतज़ार में कि जब वालमार्ट आदि विदेशी कंपनियां आएंगी तो उन्हें खरीद लेंगी या उनके साथ साझे में कारोबार के लिए अपनी पूंजी लगाएंगी। पिछले दस साल से वालमार्ट भारती ग्रुप के साथ साझे में कारोबार चला भी रहा है। बड़े रिटेल की सापेक्षिक विफलता की क्या वजहें होंगी?

इसकी एक बड़ी वजह है व्यावसायिक जगह का अभाव। दरअसल, जितनी भी जगह उपलब्ध है वह बेहद सीमित और बहुत खर्चीली है, जिसकी वजह से बड़े रिटेल का लाभप्रद होना मुश्किल

होता है। दूसरी अहम बात भारतीयों की खरीदारी की आदतों से भी ताल्लुक रखती है। पश्चिमी देशों के नागरिकों के बरक्स, जो सप्ताह या महीने का बाज़ार इकट्ठे कर लेते हैं, भारतीय लोग टुकड़े-टुकड़े में खरीदारी करते हैं।

हम अपने घर से दुकान तक पैदल जाना पसंद करेंगे, न कि सुदूर बने किसी हाइपरमार्केट में गाड़ी चला कर पहुंचें। चाहे सड़कों पर खड़े ठेले वाले हों, खोमचे वाले हों, महानगरों में भी लगने वाले साप्ताहिक बाज़ार हों, किराना की दुकानें हों, मदर डेयरी के आउटलेट हों - भारतीयों के सामने खरीदारी को लेकर पर्याप्त विकल्प मौजूद हैं। दरअसल, सस्ते श्रम पर काम करवा रहे, यहां तक कि प्रतिबंधित बाल श्रमिकों को अपने यहां काम पर रखने वाले, बगल के इन व्यापारियों को इस बात से भी कोई उज्र नहीं होता कि 'होम डिलीवरी' के नाम पर आपके आदेश पर माचिस भी घर तक पहुंचा आए। बड़े रिटेल की स्वयंसेवा के बरक्स यह बात भारतीयों की मानसिकता के लिए मुफीद जान पड़ती है। यह विचारणीय मसला है कि जब रिलायंस और बिड़ला इन बिखरे हुए, विशाल ढांचे को कुछ नुकसान नहीं पहुंचा पाए तो वालमार्ट और टेस्को जैसी बाहरी कंपनियां कितना असर डाल लेंगी? श्रीनिवासन अंत में यह भी पूछते हैं कि क्या बड़े रिटेल ने छोटे दुकानदार को तबाह किया है, जिसकी बात सभी विपक्षी पार्टियां एक सुर में कर रही हैं। उनके मुताबिक इस बात को लेकर कोई तथ्य मौजूद नहीं हैं कि पिछले डेढ़ दशक में बड़े पैमाने पर नुककड़ की दुकानें बंद हुई हैं।

वैसे बड़े रिटेल में विदेशी पूंजी निवेश को सुगम बनाने को लेकर पक्ष और विपक्ष के बीच फौरी लड़ाई जिस तरह पेश हुई है, वह पूंजी के वास्तविक चरित्र पर परदा डालती है। विदेशी पूंजी की मुखालफत का अर्थ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देशी पूंजी को क्लीनचिट देने वाला निकलता है? क्या हम कह सकते हैं कि 'देशज' पूंजी सांता क्लॉज का दूसरा रूप है, जिसकी हिमायत की जानी चाहिए?

फिलवक्त हम विपक्षी पार्टियों के उसूली नहीं, बल्कि रणनीतिक विरोध की बात को भले ही मुल्लवी कर दें- जिसका सबसे बड़ा प्रतीक मल्टीब्रांड रिटेल में एफडीआई की मुखालफत के लिए उतरी भाजपा है (जिसके द्वारा अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व काल में इसके लिए प्रस्ताव लाने के लिए तैयार रहने के प्रमाण मौजूद हैं)- हम इस बहस को टाल नहीं सकते कि बड़े आर्थिक सुधारों के नाम पर किस तरह पूंजीपतियों को अधिकाधिक छूट की

ज़मीन तैयार की जा रही है। यह समझना बेहद ज़रूरी है, क्योंकि तभी हम लड़ाई के नए प्रतिमान बनाने की बात कर सकते हैं।

आर्थिक सुधारों के जिस दूसरे चरण को तेज करने की बात हो रही है, उसकी बुनियाद में बढ़ती मुद्रास्फीति और धीमी पड़ती आर्थिक वृद्धि की दर से निपटने का एक खास नुस्खा पेश किया जा रहा है। इसका एक रास्ता यह मौजूद था कि सरकार करों की आमद बढ़ा कर अतिरिक्त संसाधन जुटाती और सार्वजनिक खर्चों को बढ़ाती ताकि जिसे फिस्कल डेफिसिट- राजकोषीय घाटा- कहा जाता है, वह न बढ़े।

लोगों को याद होगा कि प्रणव मुखर्जी के वित्त मंत्री रहते इस दिशा में कुछ कदम बढ़ाए जा रहे थे, ताकि कॉरपोरेट क्षेत्र से अधिक करों की वसूली हो सके। हम याद कर सकते हैं कि कॉरपोरेट मीडिया ने किस तरह 'गार' का विरोध किया था और प्रणव मुखर्जी को पाप्युलिस्ट अर्थात् लोकरंजक वित्तमंत्री का खिताब दिया था।

स्पष्ट है इस रास्ते पर सत्ताधारी तबके में सहमति नहीं बन पाई। सहमति इस बात पर बनी कि सरकार निजी निवेश को प्रोत्साहित करे। तर्क यह था कि बड़ी घरेलू पूंजी और विदेशी निजी पूंजी की 'भूख' को बढ़ावा देते रहा जाए। अगर मुनाफे में तेजी आएगी तो वे पूंजी निवेश करना चाहेंगे।

इस संदर्भ में रिज़र्व बैंक की सलाह थी कि सरकार सबसिडी जैसे मदों में कटौती करके निवेश के खर्च बढ़ाए, जिससे नई मांग पैदा होगी और वह निजी निवेश को प्रोत्साहित करेगी। रिज़र्व बैंक ने साफ कहा था कि अनाज और पेट्रोलियम उत्पादों पर जो सबसिडी दी जाती है, उसी में कटौती हो।

उसके विशेषज्ञों का कहना था कि भले इसका असर गरीबों पर अधिक पड़े, मगर यह 'कीमत' चुकानी पड़ेगी, अगर घाटे को नियंत्रण में रखना है। दूसरे शब्दों में कहें तो संपत्तिशाली तबकों से अतिरिक्त कर वसूली के रास्ते बढ़ोतरी तेज करने का विकल्प अपनाने के बजाय गरीबों की सबसिडी में कटौती के रास्ते को अपनाया जाए।

इस मसले पर दूसरा सरकारी रुख यह था कि वित्त मंत्रालय या प्रधानमंत्री कार्यालय 'बिग टिकट रिफॉर्मस' को अंजाम दे। जैसे बहुब्रांड खुदरा में एफडीआई या बीमा में विदेशी इक्विटी को बढ़ावा देना या सार्वजनिक बैंकों के निजीकरण को तेज करना आदि, ताकि अर्थव्यवस्था की 'एनिमल स्पिरिट' मुक्त हो और निवेश आए। अगर हम पिछले दो दशक से अधिक वक्त से देश में किए जा रहे नवउदारवादी आर्थिक बदलावों पर गौर करें तो इस तर्क को अधिक व्यापक फलक पर देख सकते हैं।

प्रख्यात अर्थशास्त्री और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सी पी चंद्रशेखर ने 'फ्रंटलाइन' में लिखे एक लेख में इस पर विस्तृत रोशनी डाली है कि नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत किस तरह मुनाफा बढ़ रहा है और मजदूर की मजदूरी का

प्रतिशत घट रहा है। उनके मुताबिक 1981-82 के बाद के तीस सालों में उत्पादकता पांच गुना बढ़ी, जिसका तीन चौथाई 90 के बाद सामने आया। पर उसका लाभ मजदूर को नहीं मिला, उसकी खालिस मजदूरी (नेट वेज) में कोई अंतर नहीं आया। मिसाल के तौर पर 1980 के दशक के दौरान अगर कुल संग्रहीत मूल्य (नेट वैल्यू एडेड) में मजदूरी का हिस्सा तीस प्रतिशत के करीब था तो 2009-2010 तक आते-आते यह अनुपात 11.6 प्रतिशत तक पहुंच गया। मजदूरी में हास का सीधा असर बढ़े मुनाफे में दिखता है। वर्ष 2001-2002 में कुल संग्रहीत मूल्य में लाभ का अनुपात 24.2 फीसद था जो 2007-2008 तक बढ़ कर 61.8 फीसद पर पहुंच गया।

ऐसे कौन-से कारक हैं कि 2002 के बाद मुनाफे में इतनी जबर्दस्त तेजी आई। जवाब है, आर्थिक सुधारों के नाम पर सरकार ने कॉरपोरेट क्षेत्र को करों में छूट प्रदान करने, अलग-अलग किस्म के सौदों और वित्तीय लेन-देन को सुगम बनाने, ज़मीन और अन्य दुर्लभ परिसंपत्तियों को निजी क्षेत्र को बहुत मामूली कीमत पर सौंपने जैसे जिन कदमों को आगे बढ़ाया, उसी से पूंजी के मालिकों की चांदी होती दिखी। यूपीए सरकार ने 2009 में सत्ता संभालने के साथ ही विशेष आर्थिक क्षेत्रों (सेज़) के निर्माण में आ रही बाधाओं को दूर करने का प्रस्ताव रखा था।

सेज़ के आकार पर अपने पिछले कार्यकाल में पाबंदी लगाने के लिए मजबूर हुई सरकार ने यह निर्णय लिया था कि अब ऐसी कोई पाबंदी नहीं रहेगी। इतना ही नहीं, इसकी जगह चुनने के मामले में डेवलपर्स को आज़ादी दी थी। सेज़ को कई तरह के करों में रियायत देने के साथ ही श्रम कानून आदि के लिहाज से भी काफी छूट दी गई है। यहां निर्मित तमाम उत्पाद निर्यात के लिए होते हैं, जिन्हें लगभग दस साल तक तमाम करों से मुक्त रखा जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि नवउदारवाद के अंतर्गत न्यूनतम राज्य की धारणा को पूंजी के मालिकों और उनके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारिंदों के हाथों संपत्ति और आय को राज्य द्वारा ही हस्तांतरित करने में इस्तेमाल किया जाता है और इस बात को जनता से छिपाया जाता है कि खुद राज्य-व्यवस्था के अंग ही संचय के स्थान बन रहे हैं। वे लोग जो 'बिग टिकट रिफॉर्मस' की बात कर रहे हैं, मानते हैं कि निवेशकों का भरोसा और उत्साह बनाए रखने के लिए यह बेहद ज़रूरी है।

यह मॉडल मुझी भर लोगों के ही हित साधता है, व्यापक आबादी को और अधिक विपन्न बनाता है। असली समस्या घटती मांग की है। क्या करों के दायरे को बढ़ाए बिना इसके बारे में सोचा जा सकता है?

अगर हम जनता की वाकई हिमायत करना चाहते हैं तो इस मसले को देशी बनाम विदेशी पूंजी के तौर पर पेश करने के बजाय नवउदारवादी आर्थिक बदलावों को वास्तविक चुनौती दे सकने वाले अंदाज़ में प्रस्तुत करना अधिक तर्कसंगत होगा।

उलगुलान का अंत नहीं - बिरसा की यह आवाज़ अब भी गूँज रही है

■ फैसल अनुराग

बिरसा मुंडा, जयपाल सिंह मुंडा, रामदयाल मुंडा, और दयामनी बारला। ये उन मुंडाओं के नाम हैं, जिन्होंने झारखंड के इतिहास को प्रभावित किया है। बिरसा ने अपने समुदाय के जंगल-ज़मीन बचाने के लिए अपने से कई गुना अधिक शक्तिशाली सत्ता से लोहा लिया। सड़ल रकब का पहाड़ सैकड़ों मुंडाओं के खून से लाल हुआ, लेकिन मुंडा झुके नहीं। अंग्रेज 1908 में छोटानागपुर काशतकारी कानून लागू करने पर मजबूर हुए।

यह भगवान बिरसा मुंडा की जीत थी। आगे जयपाल सिंह मुंडा ने कमान संभाली और झारखंड की धरती पर अपना राज स्थापित करने की राजनीतिक मुहिम छेड़ी। 1938 में आदिवासी महासभा का गठन कर आंदोलन तेज किया। आगे रामदयाल मुंडा ने लड़ाई की सांस्कृतिक कमान संभाली। लोगों को ज़मीन संबंधी छल-कपट से जागरूक करने के लिए सांस्कृतिक आंदोलन छोड़ा। मांदर और बांसुरी की धुन पर झारखंड के जंगलों को जगाया और विद्रोह करने को ललकारा। जल-जंगल-ज़मीन पर अधिकार को लेकर लोगों में नई राजनीतिक चेतना का संचार हुआ और लोग विकास प्रक्रिया के छलावे से अवगत हुए।

अब बात अर्जुन मुंडा और दयामनी बारला की। बिरसा मुंडा ने जिस ज़मीन के लिए लड़ाई लड़ी थी, उसकी सत्ता आज एक मुंडा के हाथ में है, इससे बड़ी जीत और क्या हो सकती है? मगर क्या यह वाकई जीत है और मुण्डाओं का अबुआ दिशुम अबुआ राज का नारा आज हकीकत की

झारखंड में ज़मीन के सवाल पर विद्रोहों का लंबा इतिहास रहा है और लोगों ने हर कीमत पर अपने जीने के इस साधन की रक्षा की है। झारखंड बनने के बाद से ज़मीन लूट की प्रक्रिया चरम पर पहुंच गई और यहां के स्थानीय लोग भूमिहीन होने लगे। लूट की इस प्रक्रिया में सरकार ने भी अपनी भरपूर भागीदारी निभायी है। यह एक बड़ा कारोबार बन चुका है। आम जनता की सुनने वाला कोई नहीं। अदालत में भूमि विवाद के हजारों लंबित मुकदमे इसके प्रमाण हैं। जान देंगे पर ज़मीन नहीं, की लहर पूरे झारखंड में गूँज रही है।

ज़मीन पा चुका है? आज एक मुण्डा सत्ताधारी है और दूसरी मुण्डा दयामनी उस सत्ता के जनविरोधी होने पर संघर्ष के मैदान में हैं। एक मुण्डा राजगद्दी पर है और दूसरी जेल में। वह भी ज़मीन के सवाल पर। एक मुण्डा आदिवासियों की ज़मीन लेने के लिए हथियारों से लैस पुलिस-सेना को किसानों-मजदूरों से लड़ने के लिए भेजता है और दूसरी ओर एक मुण्डा महिला दयामनी उस सेना के खिलाफ मैदान में किसानों की तरफ से उतरती हैं, धरती

आबा के संघर्ष के आह्वान को वर्तमान में जीती हुई। जान देंगे पर ज़मीन नहीं, का नारा देने पर लोग उतारू हैं और दूसरी तरफ हठी सत्ता उनसे कहती है- ज़मीन देना ही होगा चाहे उसके लिए खेत किसानों के खून से लाल हो जाएं।

मैं अक्सर वीर लड़ाका आदिवासियों के बारे में सोचता हूँ। उन्होंने कभी गुलामी नहीं स्वीकार की। यहां तक कि उनके लोकगीतों में भी संघर्षगाथा गूँजती हैं। कैसे बिरसा मुण्डा, गया मुण्डा, सिंदराय-बिंदराय, रूदु कोन्ता जैसे वीर बहादुरों ने अपनी एक-एक इंच ज़मीन की रक्षा की थी। झारखंड बनने के बाद लगा कि वीर लड़ाकों की शहादत अब रंग लाएगी और सदियों के उत्पीड़न से मुक्ति मिलेगी। जुल्म का हिसाब चुकता होगा। दयामनी अक्सर मुझसे पूछती थी- दादा, ज़मीन के संदर्भ में विकास प्रक्रिया की सच्चाई क्या है आज के ज़माने में। हमारा विकास कैसे होगा, यह तय करने वाले औद्योगिक घराने कौन होते हैं। मैं सवाल

पूछती हूँ- क्या उन गांवों में सड़क या बिजली अब तक पहुंच पाई है, जहां खनिज नहीं, संसाधन नहीं हैं? लोगों को हरे-भरे खेत, पहाड़-जंगल, झरनों के बीच से क्यों उजाड़ा जाता है। हमारे इलाके में लोगों को बेघरबार कर, खेत-ज़मीन छीनकर विकास की धुन सरकार और उद्योगपतियों को क्यों सवार होता है? एक सदी से हम सुनते आ रहे हैं कि उद्योग लगने से, खनन होने से, सरकारी संस्थान-दफ्तर खुलने से झारखंड और झारखंडियों का विकास होगा। वह मुझे तैस में आकर कहती थी- मुझे सरकार एक भी सबूत दे कि किन इलाकों में उद्योग लगने, खनन होने या सरकारी संस्थान खुल जाने से स्थानीय लोगों का विकास हो गया है। उल्टे उनकी खेती लायक ज़मीन चली गई। नौकरी मिली तो भी चपरासी की। ऐसे में विकास हुआ तो किनका? और क्या विकास का यही अर्थ होता कि घर-द्वार, ज़मीन, खेत उजाड़ कर अपने नाते-रिश्तेदारों, पड़ोसियों से जुदा कर हमें एक कबूतरखाने में बंद कर दिया जाए। बेरोज़गारों को रोज़गार देने का दावा स्वागतयोग्य है। लेकिन 25 हजार लोगों को रोज़गार देने के लिए 50 हजार लोगों को उजाड़ना, यह कैसा न्याय है और कैसा विकास है। दयामनी की ओजपूर्ण और विद्रोही बातें सुन धरती आबा की स्वर के अक्स नज़र आने लगता था। मैं सोचने लगता कि क्या दयामनी हूलगुलानों की संदेशवाहक है और उनकी विद्रोही विरासत के साथ मैदान में संघर्ष के लिए उतरी है। बीते एक दशक में उसके स्वार्थहीन संघर्ष ने बिरसा की इस धरती पर फिर से उलगुलानी स्वरों की गूंज को बुलंद किया है। राजसत्ता, ज़मीन के दलाल, पूंजीपतियों और उद्योगपतियों के लिए वह आज की बिरसा बनकर अवतरित हुई है और उसके फौलादी इरादों में धरती आबा के वही स्वर मौजूद हैं कि- यह खेत किसका, जो बोये उसका। नगड़ी में यह संघर्ष और निखर कर सामने आया और हजारों-हजार किसान राजसत्ता के खिलाफ गोलबंद हुए। इसी साल भीषण लू और तपती धरती वाले जून महीने में करीब 15 हजार लोग अपने पारंपरिक हरवे-हथियारों के साथ राजभवन पहुंचे और राज्यपाल से न्याय की गुहार लगाई। खौफजदा सरकार ने दयामनी पर आधा दर्जन कानूनी धाराएं लगाकर उन्हें बंदी बना लिया। ऐसा स्वाभाविक ही है। सत्ता जनता की तरफ से उठने वाली हर आवाज़ को किसी भी कीमत पर दफन करती आयी है। यह वैश्विक सच्चाई और सर्वकालिक भी। बिरसा के साथ भी फिरंगियों ने ऐसा ही किया था। जब हजारों-हजार मुण्डाओं ने बिरसा के नेतृत्व में शासकों के

अन्याय-अत्याचार का विरोध किया तो उन्हें खत्म करने के लिए अंग्रेजों ने पूरी ताकत झोंक दी थी। आज का परिदृश्य और दयामनी का संदर्भ इससे कितने जुदा है। एक ऐसी महिला जो किराये के एक कमरे वाले झोपड़े में रहती है और दो बेंच वाले अपने होटल में बर्तन मांजती है, आखिर उससे राजसत्ता इतना खौफजदा क्यों है। इसका जवाब सहज है- दयामनी जन-आकांक्षाओं का नेतृत्व कर रही हैं और उत्पीड़ित आबादी उसके नेतृत्व में एक हो रही है। सत्ता पर टिकने का यही सूत्र होता है कि वह उत्पीड़ितों की आवाज़ को कभी फैलने न दे। इससे आमजनों की विद्रोही चेतना एक भीषण आग का रूप लेती है और जिसके निशाने पर शासकों का कुनका आता है। भ्रष्ट व्यवस्था और पक्षपाती लोकतंत्र के अस्तित्व पर इस तरह संकट छाने लगता है। सरकार को दयामनी में इसी भय का अक्स नज़र आने लगा है। उसने मुझसे कहा था- क्या झारखंड के विकास का मानक सिर्फ यही हो सकता है कि बड़े-बड़े उद्योग लगा दिए जाएं, चाहे इसके लिए लाखों लोग बेमौत मारे जाएं। सहनशक्ति की एक सीमा होती है। इसके बाद लोगों का गुस्सा हिंसक रूप में सामने आता है। ज़मीन लेने, या यों कहें कि छीनने का कारोबार दशकों से चलता आया है। यह झारखंडी समाज की सहिष्णुता और उदारता ही है कि इसने दूसरों की खुशियों के लिए अपनी खुशियों की कुर्बानियां दी हैं। क्या जब एचईसी के लिए ज़मीन ली जा रही थी तो लोगों ने विरोध किया था। नहीं, स्वतंत्र भारत का अभिमान हममें भी था और वैश्विक प्रतिस्पर्धा में हम पीछे न छूट जाएं, इसके लिए हर बार हमने अपनी ज़मीनें दी हैं। पर नतीजा क्या निकला- जंगलों की तबाही, खेतों की बर्बादी, पहाड़ों का नाश और ज़मीन का खोह। कोई भी बार-बार धोखा नहीं खाता है। लोग अगर अपनी जान की कीमत पर भी ज़मीन बचाने को अड़े हैं तो इसे ऐतिहासिक अन्याय के नतीजे के तौर पर देखना होगा। झारखंड बनने के बाद क्या हुआ। लोगों को आशा थी कि अपना राज्य मिलेगा तो उद्योग आधारित अर्थव्यवस्था के बदले खेतीबाड़ी, जंगल, लघु-कुटीर उद्योगों को तरजीह दी जाएगी। प्राकृतिक संसाधनों का बेवजह दोहन बंद होगा और लोगों की ज़मीनें भी विकास की बलि नहीं चढ़ेगी। और इस तरह बिरसा के उलगुलानी सपनों के साथ झारखंड आगे बढ़ेगा। हुआ ठीक इसका उल्टा। दयामनी इस बात से काफी दुखी-चिंतित रहती है। वह बिरसा के वचनों का हवाला दे सरकार के रवैये को काटती कि कैसे हमारी सरकार ने पूरी

दुनिया के पूंजीपतियों को इस बाबत आमंत्रण दे दिया- आओ झारखंड की धरती को लूटो। लोगों के सपनों के साथ इससे बड़ा खिलवाड़ और क्या हो सकता है, जिसमें एक गरीब के ज़मीन के उस अंतिम टुकड़े को भी जबरदस्ती लूटा जा रहा हो, जिस पर वह धान-सब्जी उगाकर किसी तरह अपना और अपने परिवार का पेट पाल रहा हो। अरे, ज़मीन चली जाएगी तो खाएंगे क्या? लोगों को बेघर करना ही क्या लोक कल्याणकारी सरकार का दायित्व है? एक भी आदमी की ज़मीन लेने से पहले सरकार और प्रशासन के लोग अपने आप से यह सवाल पूछें कि यदि उन्हें अपनी ज़मीन और घर से बेदखल कर दिया जाय तो उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी। हम ऐसा नहीं कह रहे कि विकास न हो, लेकिन वह किसी को उजाड़कर नहीं। बीच का रास्ता निकालना होगा। बिरसा मुंडा, जयपाल सिंह मुंडा, रामदयाल मुंडा का जीवन झारखंड की चिंता में ही बीता। इन्होंने जो संघर्ष किया, उसी के फलस्वरूप झारखंड मिला। मुख्यमंत्री महोदय इन बातों को, हजारों लोगों की शहादतों को कैसे एक पल में भुला सकते हैं, कैसे नकार सकते हैं? अभी भी बिरहोड़, असुर, पहाड़िया जो कंद-मूल खाकर जीते हैं, उनको आइआइएम या लॉ यूनिवर्सिटी से क्या मतलब और इसके बन जाने से उन्हें क्या लाभ मिलेगा। दयामनी ने आर्सेलर-मित्तल के खिलाफ लंबा संघर्ष किया है। उसके संबंध में उसका एक ही तर्क विकास के सारे तर्कों को काटने और खारिज करने के लिए काफी है- बाहरी पूंजीपति कैसे ले सकते हैं, जिनके पैर तक कभी मिट्टी पर नहीं उतरते। झारखंडी समाज के जीवन का आधार है ज़मीन, इसे हमसे छीन लिया जाएगा तो हम मर जाएंगे। यही तो लूटने वाले चाहते हैं कि सारे आदिवासी मारे चले जाएं और उनके लिए सारे संसाधन को लूटने का रास्ता साफ हो जाए। ज़मीन खोदने, पहाड़ तोड़ने, जंगल उजाड़ने के बाद उद्योगपतियों की सेना अगले स्थान को जीतने निकल पड़ेगी। तब न आदिवासी बचेंगे, न उनके जंगल बचेंगे और ज़मीन भी धंस जाएगी। हम एक मुंडा अर्जुन पर इतना यकीन तो कर ही सकते हैं कि जिनके हाथों में आदिवासियों को भंवर से बाहर निकालने की जिम्मेदारी है, वो सही-सलामत सारे झंझावातों के बीच हमें सुरक्षित रखेंगे, बाहरी हमलों के बीच चक्रव्यूह से बाहर निकालेंगे। झारखंड में ज़मीन के सवाल पर विद्रोहों का लंबा इतिहास रहा है और लोगों ने हर कीमत पर अपने जीने के इस साधन की रक्षा की है। झारखंड बनने के बाद से ज़मीन लूट की प्रक्रिया चरम पर

पहुंच गई और यहां के स्थानीय लोग भूमिहीन होने लगे। लूट की इस प्रक्रिया में सरकार ने भी अपनी भरपूर भागीदारी निभायी है। यह एक बड़ा कारोबार बन चुका है। आम जनता की सुनने वाला कोई नहीं। अदालत में भूमि विवाद के हजारों लंबित मुकदमे इसके प्रमाण हैं। लोगों में गुस्सा स्वाभाविक है। जग लोकतांत्रिक गणराज्य में कानून का खुल्लम-खुल्ला मजाक उड़ाया जा रहा हो तो लोगों के पास विद्रोह के अलावा कोई रास्ता नहीं बचता। नगड़ी के किसानों के हठ को इससे अलग कर नहीं देखा जा सकता। दयामनी ने उन किसानों की आवाज़ को लोकतांत्रिक नेतृत्व दिया। उसने लोकतांत्रिक व्यवस्था के अहम तत्वों को नींद से जगाने का नगाड़ा पीटा। उसने हमेशा लोकतंत्र का सम्मान करते हुए विरोध का रास्ता चुना। पर सरकार इतने पर भी बौखला गई और उसने दयामनी को जेल में डाल दिया। सवाल केवल नगड़ी का नहीं है। पूरे राज्य में विस्थापन के खिलाफ लोगों में गुस्सा है और वे इस प्रक्रिया का विरोध कर रहे हैं। काठीकुंड के आमगाछी पोखरिया से लेकर पोटका और पैनम परियोजना के विरोध में उठे स्वर लोगों के गुस्से की अभिव्यक्ति हैं। जान देंगे पर ज़मीन नहीं, की लहर पूरे झारखंड में गूंज रही है। कोयल-कारो परियोजना और नेतरहाट फाइरिंग रेंज के खिलाफ उठे स्वर भी इस श्रृंखला के इतिहास हैं।

गौरतलब है कि झारखंड के अधिकांश हिस्से पांचवीं अनुसूची और अधिसूचित क्षेत्र में शामिल हैं। यहां स्थानीय काश्तकारी कानूनों में झारखंडियों की ज़मीन की रक्षा के प्रावधान किये गए हैं। पेसा कानून-1996 भी लागू है। इन कानूनों में साफ तौर पर अंकित है कि रैयतों की ज़मीनें बिना उनकी सहमति और ग्रामसभा की अनुमति के नहीं ली जा सकती। इन कानूनों का उल्लंघन खुद सरकार ने सैकड़ों-हजारों बार किया है। सरकार खुद संविधान का मखौल उड़ा रही है। इस तरह संवैधानिक प्रावधानों के हवाले से दयामनी को जेल में डालना खुद असंवैधानिक है। इससे लोगों का गुस्सा और भी भीषण और उग्र रूप ले रहा है। सरकार को इस बात को समझना होगा। बिरसा ने अंतिम युद्ध से पहले गाया था- कि धरती आग की लपटों से ढंक जाएगी और सब कुछ धुआं हो जाएगा कि भीषण लड़ाई छिड़ चुकी है। दयामनी की बातें मेरे कानों में गूंजती कि- दादा, जब तक हम, हमारी चेतना में खेत, जंगल-पहाड़ और हमारी संस्कृति जीवित रहेगी, तब तक हम इसके लिए संघर्ष करते रहेंगे क्योंकि इनके बिना हमारा जीवन नहीं।

साँची कहे तो मारण धावे

सबको जोहार,

मैंने झारखंड की धरती को कभी धोखा नहीं दी। झारखंड की जनता के सवालोंने कभी समझौता नहीं की-कोयल नदी, कारो नदी और छाता नदी का बहता पानी इसका साक्षी है। इस धरती के मिट्टी-बालू में अंगुलियों से लिखना-सीखी। कारो नदी के तट में बकरी चराते-नदी के पानी में डुबकी लगाकर नहाते तैरना सीखी। आकाश के ओस के बूंदों से नहाये घास-फूस और पेड़-पौधों की छाया ने मुझे प्यार दिया-इनका कैसे सौदा कर सकती हूँ। जिस समाज ने मुझे जीना सिखलाया-उस समाज के दुःख दर्द का साथी अपने को कैसे नहीं बनाती। इनके हक-हूकूक-जज्बातों की रक्षा करना भी हमारी ही (सभी की) ज़िम्मेदारी है और ज़िम्मेदारी निभाने वालों के लिए शायद यही रास्ता है-इनके हिस्से सिर्फ संकट और परेशानी ही लिखा हुआ है-ज़िंदगी का यही सच्चाई है।

मैंने तो सरकार को बताने की कोशिश की थी-कि आप का सिस्टम अपने नागरिकों के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी नहीं निर्वहन कर रहा है। रोज़गार गारंटी योजना के तहत ग्रामीणों का पलायन रोकने के लिए ग्रामीण इलाकों में ही 100 दिनों का रोज़गार उपलब्ध कराना है-जिसके लिए जॉब कार्ड अनगड़ के ग्रामीणों ने मांगी-रैली की उन पर केस हुआ। उन पर थोपे की वापसी की मांग ग्रामीणों ने की। उसमें मेरे साथ कई साथी उपस्थित थे। सर्वविदित है-मनरेगा योजना के घोटाला के बारे में सच्चाई यह कि है-ग्रामीणों को कुछ भी नहीं मिला। लेकिन हक मांगने वाले-अपराधी करार दिये गये हैं-मैं जेल पहुंच गयी।

कानून को ताक में रख कर 227 एकड़ कृषि योग्य भूमि को कब्ज़ा कर रही है। सरकार को बताने की कोशिश किये कि-आप गलत कर रहे हैं-कानूनी और मानवा के आधार पर। खेती की ज़मीन छोड़ दीजिये और बंजर भूमि पर लॉ कॉलेज और आई.आई.एम. बनाइये-आप का स्वागत है। हमारी गुनाह इतना ही है-इसी अपराध में हमारे चार साथी पहले ही जेल काट चुके, कईयों का हाथ टूटा-आज मैं जेल में हूँ।

आज राज्य के लुटेरे-सरकार और न्यायपालिका की नज़र में देश के शुभचिंतक हैं। राज्य के संसाधनों को लूटने वाले, मानवाधिकारों का दमन करने वालों को सरकार और न्यायपालिका संरक्षण दे रही है और इस धरती के भूमिपुत्र। पुत्री-शुभचिंतकों को अपराधी करार दिया जा रहा है। सिद्धू-कान्हू-बिरसा मुंडा सहित तमाम स्वतंत्र सेनानियों को भी यही ताज पहनाया गया था।

क्या सच है-क्या गलत है-मैं नहीं समझ पा रही हूँ-लेकिन यही ज़िंदगी का हकीकत है-कि मैं आज पत्थर हो गयी हूँ। पूरी दुनिया सो रही है-रात को एक बजा है अभी। बिरसा मुंडा केंद्रीय कारा के महिला वार्ड के बंदी भी सो रहे हैं-मैं अकेली बैठी हूँ। ज़िंदगी में किसी के दुःख से अपने को अलग नहीं की-दिन हो रात हमेशा लोगों का आंसू पोंछने के लिए रात की अंधकार भी मेरा रास्ता कभी रोक नहीं सका-लेकिन न्यायपालिका ने आज मेरे पैरों पर बेड़ियां पहना दिया। हर आंख का आंसू पोंछने वाली हाथ को माननीय न्यायपालिका ने शिकंजों से जकड़ दिया।

गम में डूबा हुआ है-और मैं जेल में निसहाय मूक बधीर बन कर रह गयी हूँ। आंख में आंसू हैं लेकिन बह नहीं पा रहा है। आज 6/11 को कोर्ट में जाना है-मुझे समझ में आ गया है कि कोई नया केस मेरे उपर चढ़ेगा-जिसके लिए मुझे कस्टडी में लिया जाएगा या रिमांड में या प्रोडक्शन वारंट जारी किया जाएगा। मैं आज भाभी के अंतिम संस्कार माटी में शामिल होने के लिए कोर्ट को आवेदन दी हूँ-मुझे नहीं पता अनुमति मिलेगी या नहीं। मेरा भरोसा अब “भरोसा” से भी उठ रहा है।

हां-फैसल दा, बासवी जी, नेलसन, अलोका, प्रवीण, सुशंगतो, मीडिया के साथी सहित सभी साथियों (सबका नाम नहीं ले पा रही हूँ) जो नज़दीक में हैं और दूर में हैं मेरा हौसला बुलंदा किये हैं-मेरे आंख के आंसू पोंछे हैं। जेल में बंद कई-लोग दुआएं दे रहे हैं-कि तुमको यहां नहीं बाहर रहकर काम करना है। मैं कोशिश करूंगी अपने को उसी तरह खड़ा रखने का-जिस तरह-नदी-नाला, पहाड़-जंगल, गांव-गांव में खड़ा होके नारा बुलंद किये-हम अपने पूर्वजों का एक इंच ज़मीन नहीं देंगे। आशा है-आज का, अभी का यह क्षण ही-ज़िंदगी का अंतिम पड़ाव नहीं है। जब तक कोयल-कारो और छाता नदी की धाराएं बहते रहेंगी-ज़िंदगी का जंग जारी रहेगा।

आप लोगों की बहन

दयामनी बारला

6/11/12

बिरसा मुंडा केंद्रीय कारा-होटवा

ब्रेविक के बहाने दिखा यूरोप का नव नाजीवाद

■ सुभाष गाताडे

पिछले दिनों नार्वे की एक अदालत ने आतंकी ब्रेविक को 21 साल कैद बामशक्कत की सजा सुनाई। ब्रेविक ने पिछले साल जुलाई में 77 लोगों को मार डाला था। इस आतंकी का कहना था कि इस तरह वह अपने देश को उस 'मुस्लिम आक्रमण' से बचाना चाहता था, जो सत्ताधारी लेबर पार्टी की आप्रवासी नीति के चलते संभव हुआ है। ब्रेविक पर चला मुकदमा हत्यारे को सजा दिलाने के लिए निर्मित जनदबाव के लिए जाना जाएगा। इस मुहिम का एक यादगार पल था, राजधानी ओस्लो की सड़कों पर तेज बारिश के बीच 40 हजार से अधिक लोगों द्वारा मिल कर गाया गया बच्चों का एक गीत। अमेरिका के महान जनसंगीतकार पीट सीगर का यह गीत 'इंद्रधनुष की संतानें' नार्वे में बच्चों के गीत के तौर पर लोकप्रिय है। गाने के बाद वहाँ एकत्रित तमाम लोगों ने हत्याकांड में मारे गए लोगों की याद में अदालत की सीढ़ियों पर फूल चढ़ाए। अदालत में सुनवाई के दौरान ब्रेविक ने इस गाने को अपना निशाना बनाया था और कहा था कि गाने की लोकप्रियता इस बात का सबूत है कि किस तरह 'सांस्कृतिक मार्क्सवादियों' ने नार्वे के स्कूलों में घुसपैठ की है।

पागल बताने का दांव : दूसरी तरफ यह मुकदमा सत्ताधारी तबके के एक प्रभावी हिस्से द्वारा इस मसले पर लगातार अस्पष्टता बनाए रखने के प्रयासों के लिए भी याद किया जाएगा। इस तबके की यही कोशिश रही कि ब्रेविक को 'पागल' घोषित करवा कर मामले को रफा-दफा कर दिया जाए और उन असुविधाजनक सवालों पर कोई बात न हो, जो इस आतंकी कार्रवाई से सामने आ गए हैं। पागल घोषित करवाने का दांव खाली जाता देख उसे तनहा आतंकी घोषित करवाने की कोशिश हुई ताकि यूरोप, अमेरिका में आकार ले रही श्वेत आतंकवाद की परिघटना के अन्य सूत्रों तक किसी की नजर न जाए। यह अकारण नहीं था कि उन लोगों से कभी पूछताछ नहीं की गई, जिन्हें ब्रेविक ने अपना 1,500 पेज का घोषणापत्र भेजा था, न ही इंग्लिश डिफेंस लीग के सदस्यों से पूछताछ की गई, जिसकी बैठकों में वह शामिल हुआ करता था।

मोहम्मद मेरा से अलग : ब्रेविक के प्रति अपनाया गया यह रवैया अन्य आतंकी कार्रवाइयों को लेकर अपनाए गए रुख से बहुत अलग दिखाई देता है। जिस दिन ब्रेविक को सजा हुई, उसी दिन 'ल मांद' ने पुलिस के हवाले से बताया कि मोहम्मद मेरा, जिसने फ्रांस के तूलोज शहर में तीन हमलों में सात लोगों को मारा था, कोई अकेला आतंकी नहीं था। पुलिस ने अपने इस निष्कर्ष का आधार मोहम्मद मेरा द्वारा 20 देशों के 180 सम्पर्कों को की गई 1,800 फोन काल्स को बनाया था। मेरा और ब्रेविक में फर्क बस इतना था कि एक इस्लामिक अतिवादी था तो दूसरा ईसाई फासिस्ट। दोनों मामलों में दिखे इस फर्क से यह कड़वी सच्चाई सामने आई कि किस तरह पश्चिमी मुल्कों में नव नाजी आतंकवाद सिर उठा रहा है, बल्कि दक्षिणपंथी मुख्यधारा का हिस्सा बन रहा है।

बीते नवंबर में अमेरिका के जार्जिया में एक अतिवादी संगठन

के चार सदस्य पकड़े गए थे, जिनकी योजना बंदूकों, बमों और राइसिन नामक जहर से केंद्र व राज्य सरकार के अधिकारियों को मारने और आतंक फैलाने की थी। इस खुलासे के बाद जर्मनी के गृहमंत्री हांस पीटर फ्रेडरिक ने मीडिया को बताया कि इस्लामिक अतिवादियों की तर्ज पर उनकी सरकार अब नव नाजी समूहों का भी एक राष्ट्रीय रजिस्टर तैयार करने की सोच रही है। ऐसे समूहों ने वर्ष 2000 से 2007 के बीच टर्की मूल के नौ दुकानदारों और एक जर्मन महिला पुलिसकर्मी को मार डाला तथा कई बैंक डकैतियों और विस्फोटों को अंजाम दिया। ब्रिटेन के थिंकटैंक 'डेमोस' ग्रुप द्वारा इस मसले पर जारी एक रिपोर्ट ने इस बात को नए सिरे से उजागर किया कि किस तरह समूचे यूरोप में अतिवादी दक्षिणपंथ उभार पर है। इस अध्ययन में पता चला है कि फेसबुक आदि सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर सक्रिय नई पीढ़ी के युवा इन समूहों का हिस्सा बन रहे हैं। अपने अध्ययन के लिए डेमोस ने फेसबुक ग्रुप्स के पन्नों पर विज्ञापन देकर 10 देशों में फैले 14 अलग-अलग पार्टियों और संगठनों के 10 हजार अनुयायियों से अपनी एक प्रश्नावली का उत्तर देने को कहा था।

अध्ययन के मुताबिक समूचे महाद्वीप में उग्र राष्ट्रवादी भावनाएं युवाओं, खासकर पुरुषों में हावी होती दिख रही है। वे अपनी सरकारों और यूरोपीय यूनियन के प्रति काफी आलोचनात्मक राय रखते हैं। उनके डर सांस्कृतिक पहचान, खासकर मुस्लिम आप्रवासियों के प्रभाव विस्तार से जुड़े हैं। जानकारों के मुताबिक अगर बीसवीं सदी की शुरुआत में अति दक्षिणपंथी पार्टियों को एक दूसरे से जोड़ने वाला पहलू था एंटीसेमिटीज्म अर्थात यहूदी विरोध का था तो इक्कीसवीं सदी की पहली दहाई में इस्लाम का डर यह सूत्र बना है। डेमोस का अध्ययन बताता है कि इन विचारों और संगठनों का प्रभाव फ्रांस, इटली और आस्ट्रिया जैसे पारंपरिक आधार क्षेत्रों के अलावा उदार माने जाने वाले नीदरलैंड और स्कैंडिनेविया में भी फैला है। आठ मुल्कों में उनके अपने संसदीय ब्लाक भी मौजूद हैं।

बहुसांस्कृतिवाद पर हमला : जब प्रतिभागियों से पूछा गया कि किन वजहों से वे इन विचारों की तरफ आकर्षित हुए तो लोगों ने आर्थिक चिंताओं को कम, इस्लाम और आप्रवास को अधिक जिम्मेदार बताया। कुछ ने बहुत भोंडे जवाब भी दिए - 'वे लोग आकर हमारे सुंदर देश को तबाह कर रहे हैं। उनके इतने सारे बच्चे होते हैं जिन्हें वे ठीक से पालते भी नहीं हैं।' यूरोप में नस्लवाद की राजनीति के विशेषज्ञ और 'द क्राइसिस ऑफ मल्टिकल्चरलिज्म' के सह लेखक गावन टिटले कहते हैं कि मुख्यधारा की पार्टियां इन समूहों के उभार की जिम्मेदारी से बच नहीं सकतीं क्योंकि उन्होंने उदारवादी मूल्यों की रक्षा का हवाला देकर इस्लाम को इसकी राह का रोड़ा बताने की कोशिश की है। याद रहे, अदालत को दिए अपने हलफनामे में ब्रेविक ने साफ कहा था कि 'फ्रांस के सर्कोजी, जर्मनी की मर्केल और ब्रिटेन के कैमरून, सभी ने इस बात को स्वीकारा है कि बहुसांस्कृतिकता एक नाकारा चीज है।'

शोषण के विरुद्ध भड़कता आक्रोश

■ अंजलि सिन्हा

हेल्पलाइन का मतलब होता है जो व्यक्ति परेशानी में हो, उसे तत्काल सहायता उपलब्ध करायी जाए। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि देश के सबसे बड़े सूबे की राजधानी की पुलिस इस मामले में कुछ अलग राय रखती है। वरना पिछले दिनों दो विरोधाभासी स्थितियां साथ-साथ देखने को नहीं मिलती।

एक खबर के अनुसार एक तरफ उत्तर प्रदेश में सार्वजनिक दायरे में लड़कियों तथा महिलाओं के साथ बढ़ती छेड़छाड़ एवं यौन हिंसा की घटनाओं को देखते हुए प्रशासन द्वारा अलग से हेल्पलाइन शुरू करने का ऐलान हुआ और साथ-साथ लखनऊ पुलिस का बयान भी जारी हुआ कि वह शिकायत दर्ज होने के सात दिन बाद आरोपी के खिलाफ कार्रवाई करेगी।

प्रशासन का तर्क है कि इस बीच आरोपी को सुधरने का मौका दिया जाएगा। निश्चित ही एक अत्याचारी या उत्पीड़क-जिसने अपने होशोहवास में किसी महिला को प्रताड़ित किया हो, उसके अचानक हृदय परिवर्तन के मेकनिज़्म के बारे में पुलिस ने स्पष्ट नहीं किया, इसके उलट महिला संगठनों का वाजिब अंदेशा है कि यह सुधरने का मौका नहीं होगा बल्कि किसी बड़ी घटना को अंजाम देने का मौका प्रदान करना होगा। ऐसे सिरफिरे लोग फिर सरेआम किसी वारदात को अंजाम दे सकते हैं।

बहरहाल, प्रदेश में इसे लेकर संगठनों, समूहों का आक्रोश सड़कों पर भी प्रगट हुआ है। पिछले दिनों इलाहाबाद शहर में स्त्री मुक्ति संगठन की अगुआई में सिविल लाइंस चौराहे पर आयोजित धरने में समाज के विभिन्न तबकों की सहभागिता इसी बात को उजागर कर रही थी।

इसे संयोग कहा जाना चाहिए कि इस बदतर होती स्थिति को लेकर जन आक्रोश की स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति की एक नजीर इलाहाबाद में ही कायम हुई जब एक छात्रा ने छेड़छाड़ करने वाले मनचले की न केवल सरेआम पिटाई की बल्कि उसके वाहन को भी आग के हवाले कर दिया। राष्ट्रीय स्तर पर टीवी चैनलों ने भी इस घटना को अपने

प्राइम टाइम में दिखाया।

ज्ञात हो कि इलाहाबाद में कचहरी से नेतराम चौराहा जाने वाली सड़क बीच शहर में ही पड़ती है। इस पर साइकिल चला कर हर रोज़ कॉलेज जाने वाली एक तृतीय वर्ष की छात्रा को रोज़ ही शरारती तत्वों तथा असामाजिक लोगों की छेड़खानी का सामना करना पड़ता था।

वह हमेशा किसी तरह बचते हुए क्लास तक पहुंच जाती थी, लेकिन एक दिन उसका धैर्य जवाब दे गया और जब गुस्सा फूटा तो उसने न केवल छेड़खानी करने वाले बाइक सवार की सरेआम चप्पल से पिटाई कर दी बल्कि उसकी मोटरसाइकिल को ईंट पत्थरों से क्षतिग्रस्त करने के बाद उसे आग के हवाले भी कर दिया। आसपास जुटी भीड़ तमाशा देखती रही और फिर पुलिस ने आकर लड़की का बयान लेकर आरोपी के खिलाफ मामला दर्ज किया।

ऐसा क्रोध न सिर्फ उस छात्रा के अंदर था बल्कि आए दिन शोहदों द्वारा यौन उत्पीड़न झेल रही हर दूसरी लड़की में देखा जा सकता है। देश का ऐसा कौन सा शहर या कौन सी सड़क होगी जहां इस तरह की छेड़खानी की घटनाएं नहीं घटती होंगी।

अंतर सिर्फ यह है कि सभी लड़कियों को अपने क्रोध को अभिव्यक्त करने का मौका हमेशा नहीं मिल पाता है। कई बार ज़्यादती झेलने वाली लड़कियां इस आशंका के मद्देनज़र चुप रह जाती हैं कि आक्रोश व्यक्त करने के चलते कहीं उससे अधिक अत्याचार का सामना न करना पड़ जाए।

लेकिन यह समस्या अब इतनी व्यापक, भोंडी और विकराल रूप लेती जा रही है कि लड़कियों के लिए सार्वजनिक दायरे का वातावरण बहुत दमघोंटू होता जा रहा है और जिस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करना अब बहुत ज़रूरी हो गया है। छात्रावासों में रहने वाली या शहर के अलग-अलग हिस्सों से अध्ययन के लिए स्कूल-कॉलेज पहुंचने वाली छात्राएं यही कहती हैं कि अब तो ऐसे व्यवहारों का सामना कर-करके वे ऊब चुकी हैं।

पुलिस में शिकायत करने का झंझट कौन पाले और इतनी आसानी से शिकायत होती भी नहीं है। पुलिस प्रशासन इस मुद्दे को बहुत गंभीर न समझते हुए अपनी तरफ से सुरक्षा के कोई पुख्ता इंतज़ाम नहीं करता है। पुलिस खुद किस तरह स्त्री विरोधी मानसिकता की शिकार है, यह एक मीडिया माध्यम द्वारा कुछ समय पहले किये गए स्टिंग ऑपरेशन में उजागर हो चुका है।

खोजी पत्रकार ने दिल्ली के प्रमुख पुलिस स्टेशनों पर जाकर वहाँ के पुलिस अधिकारियों से बात की थी, जिसमें उन्होंने लड़कियों के 'चरित्र' पर टिप्पणी करते हुए उनके पहनावे को लेकर नकारात्मक बातें ही ज्यादा कहीं थीं। इससे पता चलता है कि ऐसी मानसिकता से लैस पुलिस आखिर अचानक स्त्रियों की हिमायती कैसे बन सकती है।

विचारणीय मसला

यह है कि आखिर किस गुनाह की सज़ा लड़कियाँ भुगतती रहें और क्यों उन्हीं घर-आंगन में पले-बढ़े लड़के बाहर शोहदों का रूप ले लेते हैं। कभी वे 'बहनों' की रक्षा के लिए आक्रामक तेवर में होते हैं तो कभी जिन्हें बहन की श्रेणी में नहीं मानते, उनसे छेड़छाड़ का मज़ा उठाने के लिए आक्रामक हो जाते हैं। या तो वे रक्षक बनेंगे या फिर भक्षक, लेकिन बराबरी से एक-दूसरे के प्रति सम्मान भाव रखना वह जानते ही नहीं हैं।

क्यों उनकी निगाहें ऐसी विकसित नहीं हो रही हैं जिससे लड़की उन्हें उनकी तरह की ही व्यक्ति लगे। दरअसल लड़की को व्यक्ति नहीं 'चीज़' सिर्फ वही नहीं समझते बल्कि पूरा प्रचार माध्यम मीडिया, फिल्म तथा मनोरंजन के साधनों ने उसे इसी रूप में प्रस्तुत किया है। सड़कों पर शोहदों की तरह पेश आने वाले भी घरों के अंदर ऐसे भेदभावों को देखते-समझते ही बड़े होते हैं।

पुलिस विभाग द्वारा प्रस्तुत सालाना अपराध रिपोर्ट इस



मामले में समाज का आईना पेश करती है। आम तौर पर प्रस्तुत रिपोर्ट के ज़रिये पुलिस विभिन्न प्रकृति के अपराधों के ग्राफ को रेखांकित करती है। रिपोर्ट में यह मुद्दा भी सामने आया है जिस पर अलग से विचार की ज़रूरत है, वह है समाज में पनप रही हिंसक प्रवृत्ति। इसके संबंध में गहन तहकीकात की आवश्यकता है। पुलिस के आंकड़े बताते हैं कि विभिन्न अपराधों को अंजाम देने वाले अपराधियों में 94 प्रतिशत ने पहली बार अपराध किया है तथा दूसरा चिंतनीय मुद्दा है कि हत्या के 57 प्रतिशत मुलज़िम्ओं की उम्र 25 साल से कम है।

आखिर वे कौन सी परिस्थितियाँ हैं या बच्चों को कैसा वातावरण समाज में मिल रहा है जिसमें वे किशोरावस्था पार कर इतनी बड़ी संख्या में अपराधी बन रहे हैं।

किशोरों-युवकों का हिंसक व्यवहार इतनी बड़ी परिघटना कैसे बन रहा है, संबंधित शोध संस्थानों को इस पर अध्ययन कराना चाहिए। सभी अपराधों में सबसे ऊपर महिलाओं के खिलाफ होने वाले अपराधों को स्थान मिला है। बलात्कार के 96 प्रतिशत मामलों में जानकार या अपनों ने ही उन्हें हवस का शिकार बनाया। सिर्फ 4 फीसदी बलात्कारी अनजान थे।

यौन हिंसा का एक प्रकार, जो बलात्कार की श्रेणी में नहीं आता और जिसे बड़ा अपराध नहीं माना जाता, उस व्यवहार को करने वालों की तादाद बहुत बड़ी है। बलात्कारी बनने से तो वे फिर भी एक बार डरेंगे, लेकिन उन्हें भी पता है कि छेड़खानी का लुत्फ उठाने के नाम पर वे पकड़े नहीं जाएंगे। सवाल है कि इन कथित छोटी-छोटी बातों के लिए लड़कियाँ कहाँ शिकायत करती हैं जबकि उन्हें रोज़ाना ही इन शर्मनाक स्थितियों का सामना करना पड़ता है। बहरहाल, छेड़खानी को गंभीर मसला मानकर इसका निदान कई स्तरों पर निकालने की ज़रूरत है।

भारत की लोकचित्र परंपराएं

■ सरिता चौहान

भारत की पहचान और ताकत उसकी विविधता में है। यहां का हर इलाका दूसरे इलाकों से बिल्कुल भिन्न है। अगर हम अपने देश के व्यापक भू-दृश्य पर नज़र डालें तो एक तरफ हमें बर्फ से ढकी हिमालय की चोटियां दिखाई देती हैं तो दूसरी तरफ राजस्थान में जैसलमेर का रेगिस्तान दिखाई देता है। इसके बाद दक्षिण और पूरब में देखिए तो चमकता नीला समुद्र दिखाई देता है। इसके बाद थोड़े-थोड़े फासले पर मौसम और ऋतुओं का बदलाव इस पूरे परिवेश में और भी रंगीनी भर देता है। यहां की हर ऋतु का अपना एक सौंदर्य है।

हमारे गांवों में खेती के अलग-अलग चरण ऋतुओं में आने वाले बदलाव पर ही आश्रित रहते हैं। खेतों की जुताई, बुवाई, कटाई और अनाज निकालना तथा गोदामों में भरना ये सारे काम एक रस्म और जश्न के माहौल में किए जाते हैं। इस तरह वार्षिक चक्र के सारे चरण बरसात, शरत, जाड़ा, गर्मी या वसंत इन सभी ऋतुओं का त्यौहारों के रूप में स्वागत किया जाता है और जश्न मनाया जाता है। त्यौहार के मौके पर पूरा गांव एक परिवार की तरह साथ बैठता है और मिलकर खुशियां मनाता है। बहुत सारे लोग साथ मिलकर नाचते-गाते हैं। वह अपने घरों की रंगाई-पुताई करते हैं, एक से एक रंग-बिरंगी व स्वादिष्ट मिठाइयां बनाते हैं और पूरा समुदाय उत्सव की भावना में डूब जाता है। समय आने पर ये सभी परंपराएं और शिल्प एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के हाथों में चले जाते हैं।

हमारी लोक संस्कृति हमारी ग्रामीण और जनजातीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। जनजातीय और ग्रामीण लोग चाहे गांव में रहते हों, जंगल में रहते हों या बारहों महीने एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हों, उनके पास प्रतिभा की कोई कमी नहीं होती। उनके लिए तो कला भी ज़िंदगी का एक आम हिस्सा है। उनका जीवन सुंदरता के अहसास में खोया होता है। ये ऐसे लोग हैं जो अपना घर भी खुद बनाते हैं और फिर उसे सजाते भी खुद ही हैं। अपनी निपुणता और रचनात्मकता के सहारे ही वह अपने साधारण जीवन को भी रंगीन और सजीव बना लेते हैं।

लोक कला परंपराओं में महिलाएं भी बराबर की भूमिका निभाती हैं। महिलाओं में अपने घर-आंगन की दीवारों को रंगने की एक स्वाभाविक इच्छा व प्रेरणा होती है। वह घर की दीवारों और फर्श पर एक से एक सुरुचिपूर्ण चित्र और डिज़ाइन अंकित कर देती हैं। अपनी कढ़ाई के ज़रिए वह कपड़े के छोटे से टुकड़े

पर मिथकों और किवदंतियों का एक अनूठा जगत रच देती हैं। लोक कलाकार अपना हर काम हाथ से करते हैं और उनकी सारी कला स्थानीय स्तर पर उपलब्ध चीजों पर आश्रित रहती है। वह मिट्टी के रंगों, धूल, कोयले और पत्थरों आदि का इस्तेमाल करते हैं। कहने का मतलब यह है कि वह अपने पास मौजूद हर चीज का रचनात्मक ढंग से इस्तेमाल करना जानते हैं।

वह प्रकृति के बहुत नज़दीक रहते हैं। उनके जीवन की समूची प्रक्रिया और उनका रवैया इस बात की गवाही देता है कि उनकी नज़र में मनुष्य भी प्रकृति का एक अभिन्न और साधारण सा हिस्सा भर ही है। ऐसे परिवेश में मनुष्य भी पेड़-पौधों, परिंदों, कीड़े-मकौड़ों, पहाड़ों, दरियाओं और समुद्रों की तरह प्रकृति का एक मामूली सा हिस्सा बनकर रह जाता है। अगर वह पेड़ का एक छोटा सा हिस्सा भी काटते हैं तो पहले बाकायदा रस्मी ढंग से पेड़ से क्षमादान मांगते हुए उसे काटने की अनुमति मांगते हैं। वह मिट्टी, घास, पेड़ों, पक्षियों, सूरज-चांद, और ज्ञात-अज्ञात हर किसी के साथ बात करना जानते हैं।

किसी भी कलात्मक प्रक्रिया में रचनात्मकता बहुत महत्वपूर्ण होती है। यह प्रक्रिया समग्रतापूर्ण और सामुदायिक सहभागिता पर आधारित भी होनी चाहिए। ऐसी सूरत में दीवार पर बनाया जाने वाला मामूली सा चित्र भी अपने-आप में एक पूरी रस्म बन जाता है। जब चित्र बनाया जाता है उसी समय कई लोग देवी-देवताओं और नायकों के किस्से-कहानियां गाते-बांचते रहते हैं। इससे चित्रकार के हाथों को एक प्रेरणा और दिशा मिलती है। ऐसे में उनके हाथ चाहे कोई चीज तराश रहे हों, बुनाई कर रहे हों, मिट्टी को सांचे में ढाल रहे हों, चित्र बना रहे हों या मूर्ति बना रहे हों यानी छोटी-बड़ी कोई भी चीज कर रहे हों उसमें समर्पण और सच्चा प्रेम ज़रूर होगा। क्योंकि वह प्रकृति की पूजा करते हैं और मानते हैं कि हर चीज में आत्मा होती है इसलिए जैसे ही वह कोई चित्र या कलावस्तु बनाते हैं, वह उनके लिए सजीव हो उठती है। उनके चित्रों का हर किरदार एक खास अहमियत रखता है और उन्हें लगता है कि उसमें चमत्कारों की ताकत होती है।

भारत में लोक कला और परंपराएं कभी भी मुट्ठी भर साधन-संपन्न लोगों की बपौती नहीं रहीं। हमारे देश में लोक कला और परंपराएं तो देसी परंपराएं रही हैं। उनके ज़रिए लोगों ने संचार और संवाद के माध्यम विकसित किए हैं। ये कलारूप और परंपराएं ग्रामीण और जनजातीय समाजों में रहने वाले लोगों

के विश्वासों और भावनाओं से उपजे हैं। यह कलारूप और परंपराएं उन शास्त्रीय कलाओं से भिन्न रही हैं जो 'शिल्प' लेखों से पैदा हुई हैं और जिन्हें शाही दरबारों की हिफाजत मिली है। शास्त्रीय या मंदिर कलाओं में राजा-रानियों और उनके राज-पाट, उनकी जिंदगी और उनके देवी-देवताओं का ब्यौरा मिलता है जबकि लोक कलाओं में आम लोगों की जिंदगी, उनके मिथकों और उनके नायकों, उनके देवी-देवताओं का ब्यौरा दर्ज किया जाता है।

हमारी लोक संस्कृति ब्राह्मणवादी दर्शन और रूढ़िवादिता के समानांतर लंबे समय से अस्तित्व में रही है। यह लोक संस्कृति सभी समुदायों और जातियों के लोगों को अपने भीतर समाहित करती है और उदारवादी विचार रखने वाले सभी लोगों को एक-दूसरे के नज़दीक लाती है।

इन लोगों के लिए चिंता का सबसे बड़ा विषय खेती रहा है। ज़ाहिर है उनके लिए बारिश और फसलों की अहमियत भी एक अलग ही स्थान ले लेती है। उनके लिए यह रोजाना का संघर्ष है इसलिए वह हर सूरत में अपनी जिंदगी को सहज ढंग से जीने और उसका पूरा आनंद उठाने में विश्वास रखते हैं। जीवन के प्रति उनका लगाव उनके चित्रों में साफ झलकता है। उनके चित्र मोटी-मोटी लकीरों और कल्पनाओं के सहारे औरों से बिल्कुल अलग दिखाई पड़ते हैं। इन चित्रों में रंग भी होते हैं और भावनाएं भी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वह आधुनिक युग की प्रतिस्पर्धा और पागलपन से अनजान अपनी एक अलग ही दुनिया में जी रहे हैं मगर अभी भी वह प्रकृति के ज़्यादा नज़दीक हैं। वह अपने दिल की सुनते हैं और सब कुछ हाथ से कर लेते हैं। वह ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने हमारी परंपराओं में नए रंग और समृद्धि भरी है। उनके पास बहुत कुछ ऐसा है जो वह दुनिया को सिखा सकते हैं।

भारतीय गांवों और जनजातीय समुदायों में कई तरह की चित्र परंपराएं रही हैं। ये परंपराएं हमारे लिए गर्व का विषय हैं और हमारी सबसे बड़ी धाती हैं। दुख की बात यह है कि बढ़ते शहरीकरण के कारण अब ये परंपराएं नष्ट होती जा रही हैं। वैश्वीकरण से उनके लिए एक और खतरा पैदा हुआ है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया एकध्रुवीय संस्कृति के दर्शन पर आधारित है। और वैश्वीकरण के इस युग में जिस एक संस्कृति को फैलाया जा रहा है वह पश्चिमी संस्कृति है जिसमें परंपरागत सामाजिक संबंधों और पारिवारिक मूल्यों को नष्ट करने वाले आर्थिक संबंधों और व्यावसायिक मूल्यों के अलावा और किसी चीज को अहमियत नहीं मिलती।

पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में हमारे जीवन की गति तेज हो चुकी है। हमारी इच्छाओं का कहीं अंत नहीं होता और नए-नए मशीनी व इलेक्ट्रॉनिक उपकरण हासिल करते चले जाने

की हमारी चाह एक जुनून का रूप लेती जा रही है। लकड़ी के बने हमारे छोटे-छोटे देसी खिलौनों की जगह अब प्लास्टिक से बने इलेक्ट्रॉनिक खिलौनों ने ले ली है। हाथ से होने वाले कामों पर मशीनें हावी हो गई हैं। हमारी जिंदगी यांत्रिक होती जा रही हैं। हम खुद भी मशीनों जैसा व्यवहार करने लगे हैं। मगर हमें इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि मशीनें हमारे लिए बनाई गई हैं न कि हमें मशीनों के लिए। यदि नई प्रौद्योगिकी का मतलब विकास से है तो ये कला रूप हमारी समृद्ध और जीवंत संस्कृति का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। एक सही मायने में विकसित सभ्यता और विज्ञान एवं तकनीक की धारा कला और परंपराओं का अपमान करके आगे नहीं बढ़ सकती। जब तक कोई सभ्यता अपनी कला और परंपराओं के प्रति स्वाभिमान का भाव नहीं रखेगी तब तक वह विकास के रास्ते पर भी आगे नहीं बढ़ सकती। अब समय आ चुका है जब हमें नई तकनीक और आधुनिक साधनों को भी इन मरती जा रही परंपराओं की रक्षा के लिए करना चाहिए।

आज जबकि आप पलक झपकते अनगिनत चीजें पैदा कर सकते हैं तब इस बात पर ध्यान देना और भी ज़रूरी हो गया है कि इन साधारण लोगों की जिंदगी पर भी ध्यान दिया जाए, यह समझा जाए कि उनकी जिंदगी के रंग-रूप किस तरह पैदा होते हैं, यह जाना जाए कि एक अकेली कलाकृति को भी वह कितने कठोर परिश्रम और सहजता से बना लेते हैं।

यहां हम देश की कुछ प्रमुख लोकचित्र परंपराओं और उनके रीति-रिवाजों एवं मान्यताओं का अध्ययन करेंगे। ये चित्र शैलियां सदियों की मार झेलते हुए आज भी जिंदा हैं मगर अब आधुनिकता की मार के सामने वह पस्त होती जा रही हैं। आज ऐसी कई शैलियां नष्ट होने की कगार पर जा पहुंची हैं। गुजरात के रथवाओं की पिथौरो पेंटिंग, मध्य प्रदेश के भिलाल आदिवासियों की चित्रकला, महाराष्ट्र की वर्ली चित्रकला, बिहार के मिथिला क्षेत्र की मधुबनी पेंटिंग, राजस्थान के फड़ चित्र, आंध्र प्रदेश के नकाशी और पश्चिम बंगाल की पट पेंटिंग ऐसे ही उदाहरण हैं।

गुजरात के रथवा जनजातीय समुदाय की पिथौरो पेंटिंग

रथवा समुदाय पंचमहल और बड़ौदा जिलों का एक अहम समुदाय है। छोटा उदयपुर के एक हिस्से को स्थानीय लोग रथ का इलाका कहते हैं इसलिए रथवा नाम संभवतः इसी इलाके से पैदा हुआ होगा।

रथवा समुदाय की लोक चित्रकारी परंपरा में घरों की दीवारों पर चित्र बनाए जाते हैं। इन चित्रों में पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति और रथवाओं के देवता पिथौरो तथा इंदी राजा के चित्र बनाए जाते हैं। **पिथौरो** उनका सबसे प्रिय और सम्मानित देवता है। पिथौरो देवता को समाज की रक्षा और कल्याण का

देवता माना जाता है। पिथौरो इस समुदाय की पवित्र जनश्रुतियों का सबसे पवित्र पात्र है। पिथौरो को काली कोयल नामक अविवाहित महिला का पुत्र बताया जाता है। यह काली कोयल उनके कृषि देवता, इंदी राजा की बहन थी। आखिर में इंदी राजा अपने भान्जे के लिए अपना राजपाट छोड़ देता है। पिथौरो की किवदंती का कुल सार बस इतना ही है।

यह बात साफ नहीं है कि पिथौरो की पूजा कब शुरू

हुई या यह मिथक कैसे अस्तित्व में आया। यह भी ज्ञात नहीं है कि यह कोई शाही प्रतीक था और रथवा समुदाय के भीतर शाही परिवार से आया है या यह कोई प्राचीन जनजातीय देवता था।

रथवा चित्रों में सबसे ऊपरी हिस्सा देवताओं का होता है। इसके नीचे एक लहरदार लकीर होती है। लकीर के नीचे पिथौरो की बारात निकलती दिखाई जाती है। चित्र के निचले आधे हिस्से में जीवन की उत्पत्ति का मिथक दर्शाया जाता है। इसमें पृथ्वी, पौराणिक किसान, ग्वाला, राजा, बनिया, *बड़वो*, नियति की देवियां, गाय और बैल के अलावा बहुत सारे जंगली जीव-जंतु एवं छोटे देवी-देवता दर्शाए जाते हैं।

दीवार को तैयार करना आमतौर पर बरामदे की मुख्य दीवार पिथौरो के लिए आरक्षित होती है। जब परिवार के लोग पिथौरो का चित्र बनाने का फैसला लेते हैं तो सबसे पहले वह नौ दिन तक दीवार को मिट्टी और गोबर से लीपते हैं। इस दौरान *नाघन्या* (नौ लड़कें) नौ दिन तक व्रत रखते हैं। आखिरी दिन दीवार पर सफेद रेत की लिपाई की जाती है। अगले दिन सुबह सवेरे तक यह लेप सूख जाता है और इस तरह यह दीवार चित्र के लिए तैयार हो जाती है।

आवश्यक चीजें रथवा चित्रकारी में बहुत साधारण और बुनियादी चीजों का इस्तेमाल किया जाता है। कूची बनाने के लिए बांस के कोमल हरे तनों के टुकड़े काटे जाते हैं। दीवार पर उभरे हुए चित्र बनाने के लिए रसोई में इस्तेमाल होने वाले चाकू या तीरों का इस्तेमाल किया जाता है। इन चित्रों में अलग-अलग रंगों के पाउडर और दूध व *महुदो* शराब का भी इस्तेमाल होता है। इन चीजों से रंग तैयार होते हैं। पेंटिंग में मुख्य रूप से लाल, हरा, नीला, पीला और नारंगी रंग इस्तेमाल किया जाता है। इन चित्रों में घोड़े का धड़ बनाने के लिए लकड़ी की स्टेंसिल का प्रयोग किया जाता है।

इन चित्रों को कई चित्रकार एक साथ मिलकर बनाते हैं।



बड़वो सम्मोहन की अवस्था में चित्रित मिथक को पढ़ने की कोशिश में गुजरात की रथवा जनजाती

चित्रकारों में औरतें नहीं होतीं। अनुभवी कलाकार चित्र के अलग-अलग हिस्सों का अनुपात तय करते हैं और मुख्य घोड़ों व देवताओं की तस्वीरें बनाते हैं। कम तजुर्बेकार कलाकार चित्र के किनारों पर काम करते हैं। उल्लू, सुअर, मुर्गा, पेड़ आदि छोटे जीवों के चित्र भी वही बनाते हैं। जो कलाकार बिल्कुल नए होते हैं वह मुख्य चित्र के बाहर, आसपास की जगह में छोटी-छोटी चीजों के चित्र बनाते हैं।

जब चित्रकार दीवार पर काम कर रहे होते हैं उस समय गायकों की एक टोली जीवन की उत्पत्ति, पिथौरो और इंदी राजा के मिथकों का बखान करती रहती है। ये कलाकार *ढक* नामक ढोल की थाप के साथ गाते हैं।

पेंटिंग पूरी होने के बाद स्वीकृति की एक और रस्म निर्भाई जाती है। इसके लिए *बड़वा* (अनुष्ठानों का स्वामी) को बुलाया जाता है। मान्यता है कि उसमें पिथौरो की आत्मा वास करती है। वह चित्र का बारीकी से अध्ययन करता है और प्रत्येक पात्र को उसके नामों से संबोधित करता है। अगर चित्र में कोई कमी होती है तो वह उसे सुधारने का आदेश देता है। उसकी स्वीकृति मिलने के बाद एक बकरी की बलि चढ़ाई जाती है जिससे पेंटिंग पवित्र हो जाती है। अनुष्ठानिक भोज के लिए इस बकरी का मांस पकाया जाता है और उसे सभी मेहमानों को खिलाया जाता है।

हालांकि आज भी इस इलाके में पिथौरो की चित्रकारी का रिवाज कायम है मगर अब बहुत सारे लोग बेचने के लिए भी चित्र बनाने लगे हैं। जब वह बाजार के लिए काम करने लगते हैं तो उनके चित्रों से जुड़ी रस्में और अनुष्ठान खत्म हो जाते हैं। *भाषा* और *तेजगढ़ ट्राइबल अकादमी* जैसे संगठनों ने इस कला को ख्याति दिलाने में काफी मदद दी है। मानसिंह धनजी रथवा, मलाजा और चिलिया हमीर रथवा कुछ ऐसे कलाकार हैं जो अपनी कला को दूर-दूर तक पहुंचाने की कोशिश कर रहे हैं।

मध्य प्रदेश के भिलाल

गुजरात के रथवा और मध्य प्रदेश के भिलाल एक-दूसरे से काफी मिलते-जुलते हैं। इसीलिए मध्य प्रदेश के भिलालों को कई बार रथवा-भिलाल भी कहा जाता है। ऐसा लगता है कि रथवा और भिलाल कबीले एक ही समुदाय से निकले हैं। इन दोनों समुदायों के बीच अक्सर शादी-ब्याह भी होते हैं। समुदाय के जो

हिस्से एक दूसरे के नज़दीक पड़ते हैं उनमें तो परस्पर शादियों का चलन काफी है।

इन दोनों समुदायों के रंग-रूप, उनकी मूल्य-मान्यताओं और रीति-रिवाजों में भी काफी समानता दिखाई देती है। गुजरात के रथवा समुदाय के मिथक काफी हद तक मध्य प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियों से जुड़े दिखाई देते हैं। मालवी घोड़ा और राजा भोज जैसे प्रसंग

उनके मिथकों में कई जगह आते हैं। दूसरी तरफ भिलाल समुदाय के ज़्यादातर कुम्हार भी गुजरात से ही यहां आकर बसे हैं।

बाबो इंद और बाबो पिथौरों को मध्य प्रदेश के भिलाल भी आदर के भाव से देखते हैं। इस समुदाय के लोग भी अपने घर की दीवारों पर देवी-देवताओं की तस्वीरें बनाते हैं और उनके पूरा होने पर उसी तरह अनुष्ठान तथा बलि दी जाती है जैसे रथवा समुदाय में दी जाती है।

भिलालों की पेंटिंग रथवाओं के मुकाबले ज़्यादा आसान होती है। उनमें चित्रों को सजाने पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया जाता। इन चित्रों में रंग भी कम होते हैं। इन चित्रों में शाही बारात भी नहीं होती। ज़्यादातर चीजों की तस्वीरें सफेद रंग से बनाई जाती हैं और उनमें कलात्मकता पर बहुत ज़ोर नहीं दिया जाता है। नीले, पीले, हरे या लाल रंग से बहुत कम ही पात्रों को चित्रित किया जाता है।

इन चित्रों में भी घोड़े, बंदर, धनुष-बाण चलाने वाले, बैल, किसान, गाय, बछड़ा, ऊंट, राजा रावण और ऐसे सभी पात्र होते हैं जो रथवा पेंटिंग्स में दिखाई देते हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि भिलाल पेंटिंग्स में इन्हें बहुत सादगी से चित्रित किया जाता है। अपनी सरलता और सादगी के कारण ये चित्र रथवा समुदाय के चित्रों के मुकाबले किसी पुराने जमाने के प्रतीत होते हैं।

जनजाति अनुसंधान केंद्र, जनजाति कल्याण बोर्ड तथा कई हस्तशिल्प एवं हथकरघा संग्रहालयों की कोशिशों से अब बाहर के लोग भी उनकी कला को पहचानने लगे हैं। भारत भवन स्थित जनजातीय कला गैलरी ने भी उनकी कला को देश-विदेश के दर्शकों के सामने लाने में एक अहम भूमिका निभाई है।



मध्य प्रदेश की पेंटिंग-भिलाल आदिवासियों के सफेद घोड़ों की विशेषता को दर्शाते हुए

महाराष्ट्र की वर्ली कला

वर्ली समुदाय मुख्य रूप से महाराष्ट्र के थाणे जिले में स्थित सहयाद्री पर्वत शृंखलाओं के जंगलों में रहता है। वर्ली नाम “वराल” शब्द से आया है। वराल का मतलब होता है ज़मीन का टुकड़ा या खेत। वर्ली समुदाय के लोगों के लिए खेती ही आजीविका का मुख्य स्रोत है।

वर्ली कला पर पहली

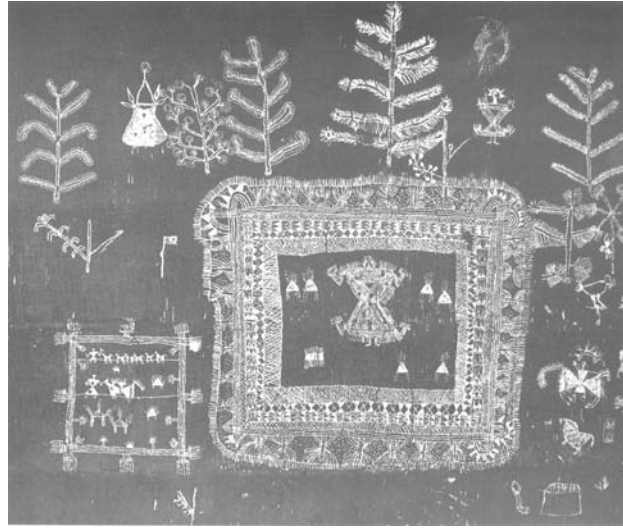
बार सत्तर के दशक में लोगों का ध्यान गया। यहां के लोग देश के अन्य इलाकों में पाए जाने वाले लोक चित्रों की तरह प्राथमिक रंगों का प्रयोग नहीं करते। वर्ली पेंटिंग्स भूरी सतह पर सिर्फ एक रंग सफेद से बनाई जाती हैं। चित्र को सजाने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली लाल और पीली बिंदियों को इसका अपवाद माना जा सकता है। इन बिंदियों को बहुत पवित्र माना जाता है। इन चित्रों में वर्ली समुदाय के देवी-देवताओं, प्रकृति और दैनिक जीवन की गतिविधियों को चित्रित किया जाता है।

वर्लियों का मानना है कि इन चित्रों के बिना समुदाय का कोई विवाह नहीं हो सकता। आमतौर पर इन चित्रों के बीचोंबीच स्थित वर्गाकार परिधि में मां देवी की तस्वीर बनाई जाती है। इस वर्ग के चारों तरफ सजावटी चित्र बनाए जाते हैं। वर्गाकार चित्र के इर्द-गिर्द आमतौर पर लंबे-लंबे पेड़ों का जंगल बनाया जाता है जिनमें आदमी और जानवर विवाह की तैयारी करते दिखाई देते हैं। पेंटिंग के मुख्य हिस्से यानी कोकट और मां देवी, पालाघाट का चित्र कोई संवासिनी यानी सुहागन औरत ही बनाती है। बीच वाले वर्ग को कोकट कहा जाता है।

वर्ली समुदाय के लोग मानते हैं कि मनुष्यों के क्रियाकलाप पूरे ब्रह्मांड की व्यवस्था को प्रभावित करते हैं और ब्रह्मांड में आने वाले बदलाव मनुष्यों के क्रिया-कलापों को प्रभावित करते हैं। उनके लिए जीवन का हर रूप आश्चर्यजनक है। सूर्य और चंद्र देवता उनके सबसे मुख्य देवता हैं। इनके अलावा वह आसमान में चमकने वाली बिजली के देवता, वायु देवता, वर्षा देवता और कई अन्य देवताओं की भी आराधना करते हैं।

वह प्रत्येक ऋतु में अलग-अलग देवता की पूजा करते हैं। उनके लिए प्रत्येक वर्ष का प्रारंभ मानसून के साथ होता है। कटाई के समय उनका वर्ष अपने यौवन पर होता है। फसल का

सारा अनाज निकल जाने और बाजार में बिक जाने के बाद वर्ष समाप्त हो जाता है। वह हर रोज पूजा नहीं करते। उनकी पूजा का मतलब होता है बड़े पैमाने का जश्न और दावत। ऐसे मौके पर वह सारा कामकाज छोड़कर तीन-चार दिन तक सिर्फ खाते-पीते और नाचते रहते हैं। इन त्यौहारों के दौरान संबंधित ऋतु के देवता के सामने बकरी या मुर्गे की बलि दी जाती है। इस अवसर पर भगत यानी पुजारी भी वहीं रहता है। इस भगत पर देवी की



एक वर्ली पेंटिंग

आत्मा चढ़ी होती है। इन चित्रों में समुदाय के इन उत्सवों का रिकॉर्ड भी रखा जाता है।

बरसात में नरनादेवा देवता की पूजा की जाती है। जब फसलें पकने लगती हैं तो हिरवा, हिमाई, झोटिंग और नरनादेवा जैसे घरेलू देवताओं की पूजा की जाती है। फसलों की कटाई के समय चेड़ा या गांव के प्रहरी देवता की पूजा की जाती है। इसके बाद वाघदेव का त्यौहार आता है। माना जाता है कि अगर वाघ देवता को भेंट न चढ़ाई जाए तो वह समुदाय को नष्ट कर सकता है। इन सबके बाद अनाज की देवी कंसारी की पूजा होती है। कंसारी की पूजा के बाद अनाज को बोरों में भरकर गोदाम में रख दिया जाता है और शादियों की धूम-धाम शुरू हो जाती है। शादियों में वह हरियाली और जन्म की देवी पालघाटा की पूजा करते हैं।

वर्ली समुदाय के लोगों के लिए मां देवी की किंवदंती सबसे महत्वपूर्ण है। वह गर्भ की शक्ति में गहरी आस्था रखते हैं। वह धरात्री अर्थात् धरती मां, गवात्री यानी गौमाता और कंसारी यानी अनाज की देवी के रूप में मां देवियों की पूजा करते हैं। इस समुदाय में महिलाओं को विशिष्ट रचनात्मक शक्तियों से लैस माना जाता है क्योंकि वही जीवन को जन्म देती हैं। शादी-ब्याह के लिए औरतें (संवासिनी) ही चित्र बनाती हैं और शादी की रस्में संपन्न करने का काम भी एक औरत पुजारिन (धवलेरी) ही निभाती है। वर्ली समुदाय में स्त्री को रचनात्मक और ध्वंसात्मक, दोनों तरह की शक्तियों से लैस माना गया है।

चित्र बनाने की प्रक्रिया

क्योंकि चित्र के कोकट और पालाघाट वाले मुख्य हिस्सों को केवल संवासिनी ही बनाती हैं इसलिए वही पहले गोबर से दीवार की लिपाई करती हैं। इसके बाद दीवार के एक

आयातकार हिस्से पर गेरू की रंगाई की जाती है। जब गेरू सूख जाता है तो दीवार का रंग भूरा-लाल हो जाता है और उस पर संवासिनी चावल के मांड में डूबी हुई टहनियों से चित्रकारी करने लगती हैं।

अविवाहित लड़कियां भी संवासिनियों की मदद करती हैं। बीच वाले वर्गाकार हिस्से को छोड़कर बाकी पूरे चित्र में वह भी चित्रकारी कर सकती हैं। संवासिनियां वर्ग के भीतर ज्यादा बारीक चित्रकारी करती हैं। इस दौरान कई औरतें

मिलकर गाती रहती हैं। बीच-बीच में वह पेंटिंग के सामने नशे में नाचती भी हैं।

इन चित्रों में पेड़-पौधों, मनुष्यों और पशुओं की दुनिया का चित्रण किया जाता है। जब धवलेरी अर्थात् विवाह की पुजारिन आकर पेंटिंग के सामने बैठ जाती है तो औरतें गाना शुरू कर देती हैं। देवताओं को प्रसन्न करने का असली उत्सव रात में मनाया जाता है। उस समय पेंटिंग को एक सफेद कपड़े से ढक दिया जाता है। इसके बाद ढक भगत समुदाय के देवता हिरवा की स्तुति में गीत गाते हैं। जिस समय इन भगतों में हिरवा की आत्मा प्रवेश कर जाती है तो पेंटिंग पर पड़ा कपड़ा हट जाता है। अब इस चित्र में आत्मा प्रविष्ट हो जाती है और वह रचनात्मक शक्ति से लैस हो जाती है। इस तरह समुदाय में शादी-ब्याह के लिए रास्ता साफ हो जाता है।

जिस समय वर्ली कला पहली बार लोगों की जानकारी में आई, उस समय कुछ वर्ली महिलाओं से कहा गया कि वह दीवारों पर बनाए हुए चित्रों को कागज पर भी बनाएं ताकि उनके चित्रों को दूर-दूर के दर्शकों तक पहुंचाया जा सके। इस कोशिश के शानदार नतीजे सामने आए और ये चित्र जल्दी ही दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गए। सत्तर के दशक में जब लोगों का इन चित्रों की तरफ ध्यान गया, तब तक इन चित्रों में एक खास जीवंतता और आकर्षण दिखायी देता था मगर बाद में इन चित्रों में यांत्रिकता आने लगी और उनकी गुणवत्ता गिरती चली गई।

जिव्या सोमा एक जाने-माने वर्ली कलाकार हैं। वह रस्मी ढंग की वर्ली पेंटिंग्स नहीं बनाते। उन्हें कलाकार के रूप में काफी ख्याति भी मिली है। उन्होंने न केवल अपनी परंपराओं को तोड़ा है बल्कि दुनिया के सामने इस समुदाय को प्रतिष्ठा दिलाने का काम भी किया है। उनकी कृतियों में मुख्य रूप से उनके गांव के लोगों, उनकी गतिविधियों और जीवन का चित्रण किया जाता है।

...क्रमशः जारी

महादेवी वर्मा

(26 मार्च 1907-11 सितंबर 1987)

■ कंचनलता सब्बरवाल

मेरी स्मृति में वह भव्य भोर अभी तक ताज़ा है जब मुझे महादेवी जी का पत्र मिला था। उस समय तक मेरा प्रथम उपन्यास 'मूक प्रश्न' हरिकृष्ण प्रेमी के सक्रिय समर्थन से 'साम साहित्य सदन', लाहौर से प्रकाशित हो चुका था। उन्होंने मुझे परामर्श दी थी कि मैं महादेवी जी को पत्र लिखूं तथा अपने प्रथम उपन्यास पर उनकी राय मांगूं। मेरे मन में तनिक हिचक थी तथापि मुझे पूरा भरोसा नहीं था कि वे मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगी तथापि प्रेमीजी के सतत प्रोत्साहन के कारण मैंने लिखा और उस बारे में सोचना छोड़ दिया। इसके पश्चात् उनके पत्र के रूप में मुझे

आनंददायी विस्मय प्राप्त हुआ, जो सराहना और स्नेह से परिपूर्ण था। मैं यह सोचकर आह्लाद में डूबी थी कि हिंदी साहित्य की चोटी की विभूतियों में से एक तथा प्रख्यात कवयित्री ने ऐसी पंक्तियां लिख भेजी थीं। उन्होंने मुझे और अधिक लिखने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं किया वरन् मुझे अपना सूक्ष्म मार्गदर्शन भी प्रदान किया। उन्होंने मुझे भेंट के लिए इलाहाबाद आमंत्रित किया।

कई वर्ष बाद मुझे इलाहाबाद जाने का अवसर मिला। मैं पहले से उनसे मिलने की अनुमति नहीं ले पायी थी क्योंकि मुझे युवा महिलाओं की एक सभा की अध्यक्षता के लिए अचानक वाराणसी जाना पड़ा था। वहां से मैं 'देवी जी' के प्रति आभार प्रकट करने के लिए इलाहाबाद गयी। उन्हें प्रेमवश 'देवी जी' कहा जाता था। वह गरमियों का तीसरा पहर था और हो सकता



है कि वे अपने कमरे में आराम कर रही हों। उनको संदेश भेजा गया कि उनसे मिलने के लिए लाहौर से कोई आया है। वे मिलने के लिए सहमत हो गयीं, हालांकि मैं देर तक प्रतीक्षा करने के लिए तैयार थी। कमरा साफ-सुथरा था, न तो फर्नीचर से अटा था और न उसमें भारी सजावट ही थी। कुछ पेंटिंग(चित्र) और एक वाद्य यंत्र उसकी गरिमा बढ़ा रहे थे। चित्र उनके प्रकृति प्रेम को उजागर कर रहे थे तथा उनके उस आध्यात्मिक सुझाव की ओर संकेत कर रहे थे जो उनके काव्य में बार-बार अभिव्यक्त होने वाला विषय था।

मैंने महसूस किया कि उनके लिए

प्रकृति का सौंदर्य केवल आनंद की वस्तु न था वरन् पूजा और प्रशंसा का पात्र भी था। उनके लिए वह एक प्रकार से आत्म साक्षात्कार तक ले जाने वाला प्रेरणा का शाश्वत स्रोत भी था।

मैं एक चित्र की सराहना में निमग्न थी, तभी मैंने उनकी धीमी सी आवाज़ सुनी, "तुम क्या देख रही हो?" मैं उनके अभिवादन के लिए खड़ी हो गयी। वे ठीक मेरे सामने बिछी चटाई पर बैठ गयीं। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अपनी बड़ी बहन के पास हूं। मैंने खेद प्रकट किया परंतु कुछ ही क्षणों में उन्होंने मुझे आश्वस्त कर दिया। उनके शब्द गहन स्नेह से परिपूर्ण थे। मैं लगभग 45 मिनट उनके साथ रही, परंतु वे मेरे जीवन के शानदार क्षण थे। वे वार्तालाप में कुशल थीं तथा उससे भी अधिक वे अपने संपर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों के प्रति कोमल प्रेम,

स्नेह और उदार भावनाओं से परिपूर्ण व्यक्तित्व की धनी थीं।

1947 में जब मैं लखनऊ में बस गयी तो मुझे उनसे मिलने के अनेक अवसर मिले। परंतु अत्यंत प्रेरणास्पद, प्रोत्साहनदायी और सच्चे अर्थ में उत्प्रेरक व्यक्तित्व के रूप में उनकी प्रथम छाप मुझ पर अंत तक बनी रही। हमने लेखिका संघ की स्थापना की तथा उनको उसकी प्रथम अध्यक्ष के रूप में प्राप्त करने का गौरव हमें मिला। वे कई वर्ष तक उस पद पर रहीं, अंततः उन्होंने अस्वस्थता के कारण स्वयं ही वह पद छोड़ा। मैंने उन्हें उस पद पर बने रहने के लिए मनाने की चेष्टा की तो उन्होंने कहा, “अब तुम्हारे लिए उस पद पर बने रहने का समय आया है।

तुम अध्यक्ष का पद ग्रहण करो।” मुझे इससे थोड़ी चोट लगी परंतु मेरे चेहरे से मेरी भावना को पहचानकर उन्होंने मुझे इस प्रकार आश्वस्त किया: “परंतु, मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ। तुम जानती हो कि यह

समय मेरे लिए सांसारिक गतिविधि से वानप्रस्थ लेने का है। इसके साथ ही मेरे गिरते हुए स्वास्थ्य को देखते हुए मेरे लिए यह उचित नहीं है कि मैं इतने सारे पद संभाले रहूँ।” इसके बावजूद हमारे आग्रह पर उन्होंने हमारी (लेखिका संघ की) संरक्षिका बनना स्वीकार कर लिया।

राजनीति में प्रवेश की ओर उनका झुकाव कभी नहीं रहा तथापि वे समकालीन घटनाक्रम के संपर्क में हमेशा रहीं। वे एक सत्यानुगामी और महात्मा गांधी की वफादार प्रशंसक और शिष्या थीं। उन्होंने कहा था, “महाभारत के समय केवल एक असत्य पांडवों और कौरवों के लिए भारी दुर्भाग्य का कारण बन गया था, परंतु अब तो प्रत्येक व्यक्ति झूठ और पाखंड का आश्रय ले रहा है। इसी का फल है कि समाज में सर्वत्र पीड़ा, विषाद और कष्ट फैला हुआ है। ईश्वर ही जानता है कि हमारे देश का क्या होगा?” वे ऐसा मानती थीं कि महिलाओं के विकास और वास्तविक सशक्तीकरण का शक्तिशाली साधन महिला शिक्षा है, विशेषतः गांवों में।

महादेवी उन दिनों को याद किया करती थीं जब वे प्रयाग आयी थीं और वहां क्रौस्टवेट गर्ल्स हाई स्कूल में पांचवी कक्षा में भरती हुई थीं। वे जवाहरलाल नेहरू की बहन कृष्णा हथीसिंह की सहपाठिन थीं। वे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम से बहुत प्रभावित हुई थीं तथा उन्होंने उसमें सक्रिय भाग लिया। वे ललित कलाओं, संस्कृति तथा अपनी कविताओं, लेखों तथा अन्य रचनाओं के माध्यम से आत्मभिव्यक्ति में गहनता से तल्लीन रहीं। उनकी दृष्टि में गद्य बुद्धि का विषय है तथा कविता का संबंध भावनाओं के साथ है। गद्य में विषयों के चिंतन और विवेचन की आवश्यकता होती है

परंतु कविता स्वतः प्रस्फुटित होती है। उसे किसी बाहरी सहारे की आवश्यकता नहीं होती। शायद वे सही थीं और उन्होंने हिंदी साहित्य को गद्य और पद्य दोनों विधाओं में सौंदर्यपूर्ण आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से समृद्ध

किया।

हिंदी संस्थान, लखनऊ में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने समकालीन राजनीतिज्ञों की कार्यशैली पर पीड़ा व्यक्त की। उन्होंने कहा कि वह शैली स्वार्थ तथा ‘मैं’ और ‘मेरा’ के सिद्धांत पर आधारित है, अतः उन्होंने महसूस किया कि ‘राजनीति’ उन लोगों के हाथों में एक खेल बनकर रह गयी है जो न तो अपने चिंतन में ईमानदार हैं, न कार्यों में। उनका एक मात्र उद्देश्य सत्ता के गलियारों में उच्चतम पद प्राप्त करना है। उन्होंने कहा, “मैं यह बात समझ सकती हूँ कि कोई व्यक्ति देश की सेवा करना चाहता है तथा अपने-आपको राष्ट्र-निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य के प्रति अथवा विराट मानव जाति की सेवा के प्रति समर्पित करना चाहता है, परंतु मैं यह नहीं समझ पाती कि वह सत्ता-प्राप्ति के खेल में उच्चतम पद को छीनकर शीर्ष स्थान प्राप्त करने का स्वप्न देखता हो और उसके बावजूद यह सोचता हो कि वह एक महान व्यक्ति है।”

महादेवी ने महात्मा गांधी के जीवन-दर्शन को समझा और उसका सावधानीपूर्वक अनुसरण किया था। उन्होंने पंडित जवाहरलाल नेहरू और डॉ. राजेंद्र प्रसाद सरीखे महान व्यक्तियों के साथ काम किया था। उन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास में छायावाद आंदोलन के प्रणेताओं-जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंत के साथ हमेशा आदरपूर्वक स्मरण किया जाता है। उनकी शैली ऐसी थी कि वे प्रकृति के रहस्यवाद और सुख-दुःख की मिश्रित अनुभूतियों में जी रहे मनुष्य की उच्चतम कल्पना के बीच समन्वय साध लेती थीं।

महादेवी ने हिंदी साहित्य को अनेक दार्शनिक, मानवीय, भक्ति-प्रधान और आध्यात्मिक कृतियां भेंट कीं, जिन्होंने उसे समृद्ध ही नहीं किया वरन् एक नयी दिशा दी, नये लक्ष्यों की ओर मोड़ा तथा अधिक सुखद एवं आनंददायी मार्ग पर आगे बढ़ाया। यह सच है कि उनकी कविताओं की लच्छेदार भाषा तथा सुंदर अभिव्यक्ति ने उनके पाठकों पर गहरा प्रभाव डाला। इसके साथ ही यह भी सच है कि उन्हें उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त शाश्वत सत्य की दार्शनिक अनुभूति की उस गहरी सौंदर्य बोधधारा के माध्यम से शाश्वत सुख अथवा आनंद के रसास्वादन का अवसर भी मिला जो सर्वोच्च सत्य के संग एकाकार होने की चेतना से निष्पन्न होती है।

महादेवी वर्मा की महत्वपूर्ण कृतियों में दीपशिखा, नीरजा, रश्मि, यामा, सांध्य गीत, स्मृति की रेखाएं और अतीत के चलचित्र शामिल हैं। इनके अतिरिक्त एक लेख संग्रह भी है जो प्रेरणा का जीवंत स्रोत रहेगा। भावनात्मक, बौद्धिक तथा सामाजिक दृष्टियों में उनका स्थान बहुत उंचा था, तथापि अपने निजी जीवन में वे सरल, मृदु, कोमल-हृदय, स्नेहिल और स्पष्ट वक्ता थीं। वे हमेशा सफेद खादी की साड़ी धारण करतीं और उसे उत्तर प्रदेश की अधिकांश महिलाओं की भांति सीधा पल्ला लेकर बांधती थीं।

उन्होंने इस सच्चाई को अनुभव कर लिया था कि बलिदान से, सर्वोच्च अस्तित्व के साथ पुनर्मिलन से सत्य और प्रसन्नता की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। उन्होंने अपनी आस्थाओं को अपने व्यवहार में उतारा। यहां तक कि उनकी कविताओं का प्रत्येक शब्द न्यूनाधिक रूप में एक धार्मिक-आदेश अथवा धर्मग्रंथ का अंश बन गया।

“पुजारी, दीप कहीं सोता है
जो दृग दानेन के आभारी

उर वरदानेन के व्यापारी
जिन अधरों पर कांप रही हैं
अनमांगी भिक्षाएं सारी
वे थकते, हर सांस सौंप देने को
यह रोता है।”

(दीप शिखा)

“चित्त जिसका हो चुका हो
द्वेषमुक्त महान
सब कहीं सबके लिए
हो सौमनस्य समान।”

वस्तुतः वे शायद मीरा की भांति इस युग की सच्ची भक्त थीं। यही कारण है कि वे निम्न गीत की रचना कर पाई :

“यह मंदिर का दीप, इसे नीरव जलने दो
दूत सांझ का इसे प्रभाती तक जलने दो।”

(सांध्य गीत)

इस श्रद्धांजली के अंत में शायद यह ठीक होगा कि मैं एक व्यक्तिगत घटना का उल्लेख करूं। हुआ यह कि महिला विद्यापीठ से संबंधित एक मुद्दे पर मैं उनसे सहमत नहीं थी। बाद में सोचने पर मुझे लगा कि मैं अपना दृष्टिकोण उनके सामने स्पष्ट कर दूं और यदि आवश्यकता महसूस हो तो अपनी ओर से खेद प्रकट कर दूं। कुछ दिनों बाद जब हम मिले तो मैं यह देखकर चकित रह गयी कि वे मुझसे पहले की भांति कोमल भावना और स्नेहपूर्वक मिलीं और जब मैंने वह प्रसंग छेड़ा तो वे सब कुछ भूल चुकी थीं। मैंने स्पष्टीकरण देना शुरू किया तो वे हंसी और बोलीं, “क्या तुम्हें वह घटना अभी तक याद है? वह कोई बात ही नहीं थी। फिर भी मतभेद होना तो अच्छा चिह्न है। हममें से किसी का भी कोई स्वार्थपूर्ण प्रयोजन नहीं था, इसलिए वह ठीक ही था।” यह उनका एक विरल गुण था कि अपने से छोटों की बात चाहे उन्हें पसंद हो या नापसंद, वे उसका बुरा नहीं मानती थीं।

मेरे लिए महादेवी जी हमेशा एक बड़ी बहन थीं और मेरे लिए ही नहीं, वे जिन लोगों से मिलतीं उन सबके लिए बहन, मार्गदर्शक, मित्र तथा दार्शनिक बन जाती थीं। उन्हें जानने वाले सभी लोगों से उन्हें स्नेह और आदर मिलता था।

विन्ध्याचल के उस पार

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

विन्ध्याचल के उस पार

प्राचीन काल में, उत्तर भारत की भांति दक्षिण भारत में भी सांस्कृतिक अभिवृद्धि हुई। बौद्ध, जैन, वैष्णव तथा शैव धर्मों ने वहां विशाल साहित्य निर्माण किया। अनेकानेक गुफा-मन्दिर बने। मन्दिर-निर्माण कला का विशेष उत्कर्ष हुआ। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं की रक्षा का कार्य भी दक्षिण भारत ने किया। अतएव उसका राजनैतिक ऐतिहासिक वृत्तांत भी हमें मालूम होना चाहिए।

भूगर्भशास्त्र की दृष्टि से दक्षिण भारत उत्तर भारत से अधिक प्राचीन है। दक्षिण भारत में पूर्व पाषाण युग से लेकर तो लौह युग तक मनुष्यों का आवास था। अत्यंत प्राचीन काल में द्रविड़ जाति आर्यों के अनवरत विस्तार से दक्षिण की ओर टिकलती हुई, विन्ध्याचल पार कर गयी और वहां उसने अपने सुव्यवस्थित राज्य स्थापित किये। आगे के युगों में, उन्होंने दक्षिण भारत के पार जाकर सीलोन को भी आबाद किया। वहां की सिंहल भाषा प्राचीन द्रविड़ों का स्मारक है। वहां की तमिल भाषा, द्रविड़ों के अनन्तरकालीन आक्रमण की देन है।

कालान्तर में, आर्यों ने भी विन्ध्याचल पार कर लिया। गोदावरी नदी के उत्तर तट तक आर्य पहुंच गये और वहां उन्होंने अपनी बस्तियां बसायीं। फलतः, द्रविड़ों का मुख्य क्षेत्र कृष्णा नदी तथा तुंगभद्रा नदी के दक्षिण तट से लेकर तो कुमारी अन्तरीप और उसके पार लंका तक माना जा सकता है।

पुराणों में कहा गया है कि अगस्त्य ऋषि विन्ध्याचल को पार कर गये। वहां उन्होंने स्वयं भगवान शिव से तमिल भाषा सीखी और यह कि अगस्त्य ऋषि तमिल के शब्दकोष और व्याकरण के प्रथम रचयिता थे। यह भी कहा जाता है कि राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन प्रचलित करने का श्रेय भी उन्हीं को है। किंतु, ये किंवदन्तियां हैं, जिनका सार केवल यही प्रतीत होता है कि सुदूर अंधकाराच्छादित अतीत में आर्य और द्रविड़ सभ्यताओं का मिश्रण प्रारंभ हो गया था।

कृष्णा और तुंगभद्रा नदी के उस पार विस्तृत प्रदेश में तीन राज्य थे, पाण्ड्य चेर और चोल। अशोक के शिलालेखों में हमें इन जातियों का उल्लेख मिलता है। (दक्षिण का एक विस्तृत भूभाग अशोक के साम्राज्य में था)। इन राज्यों का विकास और उत्कर्ष किस प्रकार हुआ, हम नहीं जानते। इतना भर मालूम है कि इन राज्यों में

सर्वाधिक प्राचीन था-पाण्ड्य, जिसकी राजधानी मदुरई थी। वह शिक्षा का प्रसिद्ध केंद्र भी था। उस राज्य में कोरकई नामक एक बन्दरगाह था, जो उन दिनों सभ्यता और संस्कृति का बड़ा केंद्र माना जाता था। प्राचीन चोल और चेर राज्यों के संबंध में अधिक ज्ञात नहीं है।

तमिल देश-जिसे हम सुदूर दक्षिण कह सकते हैं-के अतिरिक्त, कृष्णा नदी के उत्तर की ओर जो द्रविड़ रहते थे उनमें आर्य रक्त अधिक रहना स्वाभाविक है। यद्यपि दक्षिण भारत में महाराष्ट्र सम्मिलित है, किंतु उसे दक्षिण भारतीय द्रविड़ संस्कृति का अंग नहीं कह सकते। यद्यपि यह सच है कि मराठी भाषा पर प्राचीन कन्नड़ का बहुत असर हुआ है-शब्दों के अतिरिक्त, ध्वनियों और उसकी व्यवस्था में अर्थात् उच्चारण में। यह ध्यान में रखने की बात है कि आज जिस प्रकार आर्य भाषा बोलने वाली महाराष्ट्रीय जनता विशुद्ध आर्य नहीं है, उसी प्रकार तेलुगु (आंध्र) तमिल (तमिलनाडु-मद्रास प्रान्त), कन्नड़ (कर्नाटक-मैसूर) मलयालम (केरल) तथा अन्य द्रविड़ भाषाओं के बोलने वाले सभी विशुद्ध द्रविड़ हैं, यह कहना गलत है। तेलुगु भाषा तो विदर्भ के चांदा जिले से ही शुरू हो जाती है। भाषा की दृष्टि से, मराठीभाषी प्रदेश को छोड़कर, शेष सब (जिसमें लंका भी सम्मिलित है) द्रविड़ भूभाग है।

भारत के ऐतिहासिक घटना-चक्रों पर प्रभाव डालने वाली पहली दक्षिण भारतीय शक्ति थी-आंध्र देश का सातवाहन वंश। तीन शताब्दियों से अधिक समय तक उसका साम्राज्य दक्षिण प्रदेश में रहा। उन्होंने किस प्रकार शक-शक्ति को जर्जर करने का प्रयत्न किया, यह हम पहले बता चुके हैं। सातवाहन राजा ई.पू. 235 से ईसा पश्चात् सन 225 तक राज्य करते रहे। सातवाहनों ने अपने को इसीलिए 'दक्षिणापथ स्वामी' घोषित किया था। उन्होंने उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के बीच एक विस्तीर्ण सेतु का काम किया था, जिसके माध्यम से भारत के ये दो भाग एक दूसरे के पास आते गये।

सातवाहन

सातवाहन युग ने भारत की समृद्धि को और बढ़ाया। पायथान, तेर, जुन्नार, कराड़, नासिक, गोवर्धन और बनवासी नगर सातवाहन युग में बसाये गये। भृगुकच्छ के अतिरिक्त, सुपाटा, कल्याण, दाभोल, वानकोर, मलयगिरि, देवकोट जैसे बंदरगाह भी थे जिनसे उज्जैन, काबुल, काश्मीर तथा अन्य प्रांतों का माल पश्चिमी देशों को भेजा जाता था।

सातवाहन युग में ही भारतीय व्यापारी-मुख्यतः तमिल

व्यापारी-सुमात्रा, जावा, हिन्दचीन और मलाया जाते। वहां इन्होंने अपनी-अपनी बस्तियां बसायीं। फिर, इनके देखा-देखी जब बौद्ध धर्म-प्रचारक दक्षिण-पूर्वी एशिया में गये, तो सात-वाहन काल में अनेक शैव तथा वैष्णव धर्म के प्रचारक भी उस ओर जाकर वहां भारतीय संस्कृति का प्रचार करने लगे। सातवाहन युग में दक्षिण भारत की आर्थिक, व्यावसायिक और सांस्कृतिक उन्नति हुई।

सातवाहन शासक अपने को ब्राह्मणवंशीय समझते थे। उन पर द्रविड़ संस्कृति का गहरा प्रभाव था। द्रविड़ों के परिवार पितृसत्तात्मक न होकर मातृसत्तात्मक होते हैं। संभवतः इसी कारण से गौतमीपुत्र शातकर्णि और वाशिष्ठी पुत्र पुलुभायि जैसे उनके नाम थे, जिसमें माता को महत्व दिया गया था। सातवाहन शासकों के काल में न केवल ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वरन् उन्होंने बौद्ध धर्म का भी विकास किया।

वाकाटक नरेशों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। सातवाहनों के अनन्तर, दक्षिण के कुछ भाग उनके राज्यान्तर्गत थे।

चालुक्य

दक्षिण के बीजापुर नामक जिले के अन्तर्गत बादामी नाम का एक गांव है। उसका प्राचीन नाम है-वातापी। वातापी में प्रसिद्ध चालुक्य वंश ने अपना राज्य स्थापित किया था। यह राज्य छठी ईसवीं सदी में स्थापित हुआ। उसका प्रारंभिक इतिहास हमें स्पष्टतः ज्ञात नहीं है। किसी जयसिंह नामक चालुक्यवंशीय राजा का पुत्र रणराग था। उस रणराग का पुत्र था-पुलुकेशिन। उसके राज्य की स्थापना सन् 550 में हुई होगी।

पुलुकेशिन प्रथम ही असल में राज्य-स्थापक था। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र कीर्तिवर्मन ने आसपास के प्रदेशों के राज्यों को जीत लिया। मध्यप्रदेश-विदर्भ में उन दिनों क्लुचरि वंश की सत्ता थी। उन पर भी चालुक्यों ने हाथ मारा और कई विस्तृत प्रदेश उनसे छीन लिये। चालुक्यों का राज्य इस समय समुद्र-तट को स्पर्श करता था।

पुलुकेशिन द्वितीय

कीर्तिवर्मन के बाद, पुलुकेशिन द्वितीय राजा हुआ। उसने अपने पड़ोसी राज्यों को जीत लिया और फिर गुजरात पर चढ़ाई करके वहां के लाटवंशी राजाओं को अधीन कर लिया। नर्मदा नदी तट पर उसने सम्राट् हर्षवर्धन को पराजित किया। पूर्व में कलिंग को हराकर पिष्ठापुरम् का दृढ़ दुर्ग छीन लिया। उसने दक्षिण में कांची नगर पर भी हमला किया। किंतु उसे पीछे हटना पड़ा। वह अब अपने को 'महाराजाधिराज परमेश्वर' कहलाने लगा।

हुएनत्सांग उसके दरबार में आया था। उसने लिखा है कि प्रजा सुखी थी। वह राजनिष्ठ थी। सैनिक मदिरा पीकर युद्ध में तलवार चलाते थे। वह लिखता है कि पुलुकेशिन के राज्य में ब्राह्मण धर्म का प्रभुत्व था, किंतु अकेले नासिक में 100 बौद्ध विहार थे, जिनमें 5 हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे।

पुलुकेशिन की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी। ईरान के राजा

खुसरो ने उसके यहां अपना राजदूत भेजा। अजन्ता के एक चित्र में यह बात बतायी गयी है। सन् 652 में कांची के पल्लववर्णश नरसिंह वर्मन ने एकाएक पुलुकेशिन पर हमला कर दिया। पिछली हार का बदला चुकाते हुए, उसने पुलुकेशिन की हत्या कर दी। किंतु, इसके तेरह साल बाद, पुलुकेशिन के पुत्र विक्रमादित्य ने पल्लव राज्य पर चढ़ाई कर उसको हरा दिया और उसकी राजधानी कांची को भी जीत लिया। विक्रमादित्य सन् 680 में मर गया। उसका पुत्र विनयादित्य भी बड़ा पराक्रमी निकला। उसके संबंध में हमें विशेष ज्ञात नहीं है। हम इतना-भर जानते हैं कि उसकी मृत्यु के बाद, सन् 750 के लगभग, एक अन्य राज्यवंश राष्ट्रकूट ने चालुक्यों के राज्य को नष्ट कर दिया। उसके दो सौ साल बाद चालुक्यों की एक शाखा ने कल्याणी में फिर से राज्य की स्थापना की।

चोल

अशोक के समय, चोलमंडल या कारोमंडल प्रसिद्ध था। वह चोल राज्य था। ईसा की आठवीं सदी में चोल राज्य का वास्तविक अभ्युत्थान हुआ। लगभग 985 ईसवीं में राजराज नामक एक चोल राजा ने पाण्ड्य और चेर राजाओं के प्रदेश जीतकर राज्य-विस्तार किया। चोलों का वह स्वर्णयुग कहा जाता है। राजराज के पास प्रबल जलसेना भी थी। उसने एक ओर कलिंग को पराजित किया, तो दूसरी ओर लंका को भी हरा दिया। इस प्रकार उसका राज्य बंगाल की खाड़ी से लेकर तो अरब सागर तक फैल गया।

राजराजेंद्र

उसके पुत्र राजराजेंद्र चोल ने बहुत-से अभियान किये थे-अपने पिता के काल में ही। सन् 1012 में, वह राजा हुआ। वह बड़ा प्रतापी था। उसने लंका के राजा को गिरफ्तार कर लिया और उसे कैदी बनाकर अपने यहां रक्खा। वह अब दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ा, कलिंग, कोसल इत्यादि देश पादाक्रान्त करते हुए उसने बंगाल में प्रवेश किया। बंगाल के राजा, महीपाल को पराजित करके वह गंगा के किनारे-किनारे पूरब की ओर बढ़ा, अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करते हुए वह दक्षिण वापस आया।

महान् पराक्रम

राजराजेंद्र चोल की जलसेना बड़ी शक्तिशाली थी। वह भारत-भूमि में ही राज्य-विस्तार नहीं चाहता था, वरन् विदेशों में भी। उसने अपने जलसेना मलाया में भेजी। उसने मलाया के एक राजा संग्राम विजयोतुंग वर्मा को पराजित किया। वहां से बड़ा खजाना और हाथियों का एक समूह लेकर वह वहां से लौटा। राज-राजेंद्र चोल पहला भारतीय राजा था, जो जलसेना के साथ विदेशों में विजय-प्राप्ति के लिए गया हो।

शैलेन्द्रों का गर्व-हरण

राजराजेंद्र चोल भारत का पहला राजा है जिसने अपने राज्य से निकलकर दूसरे देशों पर हमला किया। उसकी जलसेना ने, आगे चलकर, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो के शैलेन्द्र साम्राज्य से मुठभेड़ की। शैलेन्द्र साम्राज्य की प्रवर्धित शक्ति बंगाल समुद्र तथा उसके

आसपास के जल-क्षेत्रों पर शासन करती थी। राजराजेंद्र चोल ने शैलेन्द्र साम्राज्य की जल-शक्ति पर प्रहार किया। उस साम्राज्य के कुछ भागों को अपने वश में कर लिया। शैलेन्द्र नरेश लगभग एक सदी तक तो चुपचाप रहे; किंतु, उसके बाद उन्होंने चोलों को अपने देश से भगा दिया।

राजराजेंद्र चोल एक महत्वाकांक्षी, पराक्रमी और साहसी पुरुष था। उसने चोलपुरम को अपनी राजधानी बनाया, उसे अनेक मंदिरों और प्रासादों से सुशोभित किया। सन् 1042 में इस महान् राजा का देहावसान हो गया।

उसकी मृत्यु के बाद, यह राज्य लगभग दो सौ साल तक चलता रहा। सन् 1310 में जब एक ओर मुस्लिम आक्रमण शुरू हुए, तो दूसरी ओर विजयनगर राज्य की स्थापना हुई, उस समय यह राज्य अवनति के पथ पर चल पड़ा।

राष्ट्रकूट

सन् 745 में दन्तिदुर्ग नामक एक वीर ने चालुक्य राज्य को नष्ट किया था। उसकी राजधानी नासिक थी। इसी वंश में अमोघवर्ष नामक एक राजा हुआ, जिसे मुसलमानों ने दुनिया के चार बड़े बादशाहों में गिना-एक, बगदाद का खलीफ़ा, दूसरा रूम का बादशाह; तीसरा, चीन का सम्राट; चौथा; राष्ट्रकूट वंश का अमोघवर्ष। राष्ट्रकूट, निःसन्देह, बड़े जुझार थे। राजपूताने के गुर्जर राजाओं से तथा कन्नौज के राजाओं से उनकी लड़ाई चलती रहती थी।

सन् 973 में बादामी के चालुक्य वंश के एक तैलप नामक पुरुष ने राष्ट्रकूटों को नष्ट कर दिया और कल्याणी में अपना द्वितीय चालुक्य वंश स्थापित किया। सन् 1000 के बाद दक्षिण में होयसल राज्य को कुछ प्रमुखता प्राप्त हुई। होयसल पहले राष्ट्रकूटों के, बाद में चालुक्यों के माण्डलिक थे। वीर बछाल और वीर नरसिंह नामक दो राजाओं ने कर्नाटक, मलवार, तैलंगाना आदि प्रदेश जीतकर, कुछ वर्षों के लिए अपनी धाक जमा दी थी। चौदहवीं सदी के मुस्लिम आक्रमणों ने उन्हें समाप्त कर दिया।

सन् 1200 के लगभग द्वितीय चालुक्य राज्य को देवगढ़ या देवगिरि के यादवों तथा होयसलों ने नष्ट कर दिया। एक सदी से कुछ वर्ष ऊपर तक यादव राज्य कायम रहा। अलाउद्दीन खिलजी ने उसे खत्म कर दिया। यह घटना सन् 1348 की है।

तमिल-राज्य

तुंगभद्रा और कृष्णा नदी के उस पार का प्रदेश-जिसे हम सुदूर दक्षिण भी कह सकते हैं-तमिल देश माना जाता है। सन् 200 से कांची नगर में राजधानी बनाकर, विष्णु नामक एक राजा ने पल्लव वंश की स्थापना की। यह राज्य उन्नतिशील था। लगभग 400 साल

बाद उसका विशेष उत्कर्ष हुआ। उत्कर्ष का काल भी, कम नहीं, दो शताब्दियों तक टिका रहा। छठी सदी में सिंह विष्णु पल्लव ने पाण्ड्य, चोल, केरल और सिंहल द्वीप के राजाओं को पराजित किया।

कांची के पल्लव वंश के मुख्य शत्रु थे वातापी के चालुक्य। सन् 640 में चालुक्य राज्य के विक्रमादित्य ने पल्लव वंश का गर्व-हरण किया और कांची नगर पर कब्ज़ा कर लिया। किंतु, उसके कुछ ही दिनों बाद, चालुक्यों की अवनति होने लगी। इधर, पल्लवों ने चालुक्यों के आघात को किसी-न-किसी तरह सह लिया। पल्लव उसके आगे भी उन्नति करते रहे; किंतु सन् 1000 के लगभग चोल राजाओं के हाथों उनका नाश हो गया।

पाण्ड्य

भारत के सुदूर दक्षिण कोण में पाण्ड्य राज्य था। उनकी राजधानी मदुरई थी। पाण्ड्यों और पल्लवों में हमेशा युद्ध होता रहता। ईसा की ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में अपनी स्थिति नष्ट होते हुए देखकर, पाण्ड्यों ने चोलों की अधीनता स्वीकार कर ली। तेरहवीं सदी में उन्होंने फिर से शक्ति एकत्र कर ली, किंतु, चौदहवीं सदी में मुसलमानों के आक्रमणों के आगे वे टिक न सके।

केरल

आधुनिक केरल प्रांत में ही प्राचीन केरल राज्य था। उनके देश में बंदरगाह के रूप में उन दिनों क्विलोन को बहुत-बहुत महत्व प्राप्त था। उस राज्य का दूर-दूर के देशों से व्यापार के कारण, खूब लाभ हुआ होगा। इस राज्य के इतिहास के संबंध में, हम ज़्यादा नहीं जानते।

इस वृत्तांत से यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत प्रदीर्घ काल तक मुस्लिम आधिपत्य से बचा रहा। परिणामतः उसने स्वतंत्र रूप से प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा और विकास किया। आगे चलकर, जब वहां मुस्लिम राज्य कायम भी हुए, वे वहां संरक्षित प्राचीन भारतीय संस्कृति को विशेष प्रभावित नहीं कर सके। फलतः, उत्तर भारत की कला, शिल्प, धर्म, दर्शन आदि में हिन्दू-मुस्लिम तत्वों के मेल से, मध्य युग में जो सांस्कृतिक अभ्युत्थान हुआ उसके कारण, उत्तर भारत की परंपरा कुछ और हो गयी, दक्षिण भारत की कुछ और ही रही। इसका अर्थ यह नहीं है कि दक्षिण भारत में मुस्लिम तत्वों ने भारतीय संस्कृति में प्रवेश ही नहीं किया। लिंगायत या वीर शैव संप्रदाय सूचित करता है जो मुस्लिम तत्व दक्षिण भारतीय धर्म-चिंतन में प्रविष्ट हुए, वे तत्व उस प्राचीन मुस्लिम उपनिवेशों के सूचक थे, अरब व्यापारियों द्वारा समुद्र-तटों पर बसाये गये थे, न कि उत्तर भारत से आये हुए, मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / notowar@rediffmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए